INSTITUTE OF DISTANCE EDUCATION
Rajiv Gandhi University

BAHIN304

भारतीय काव्यशास्त्र एवं भाषा विज्ञान – II

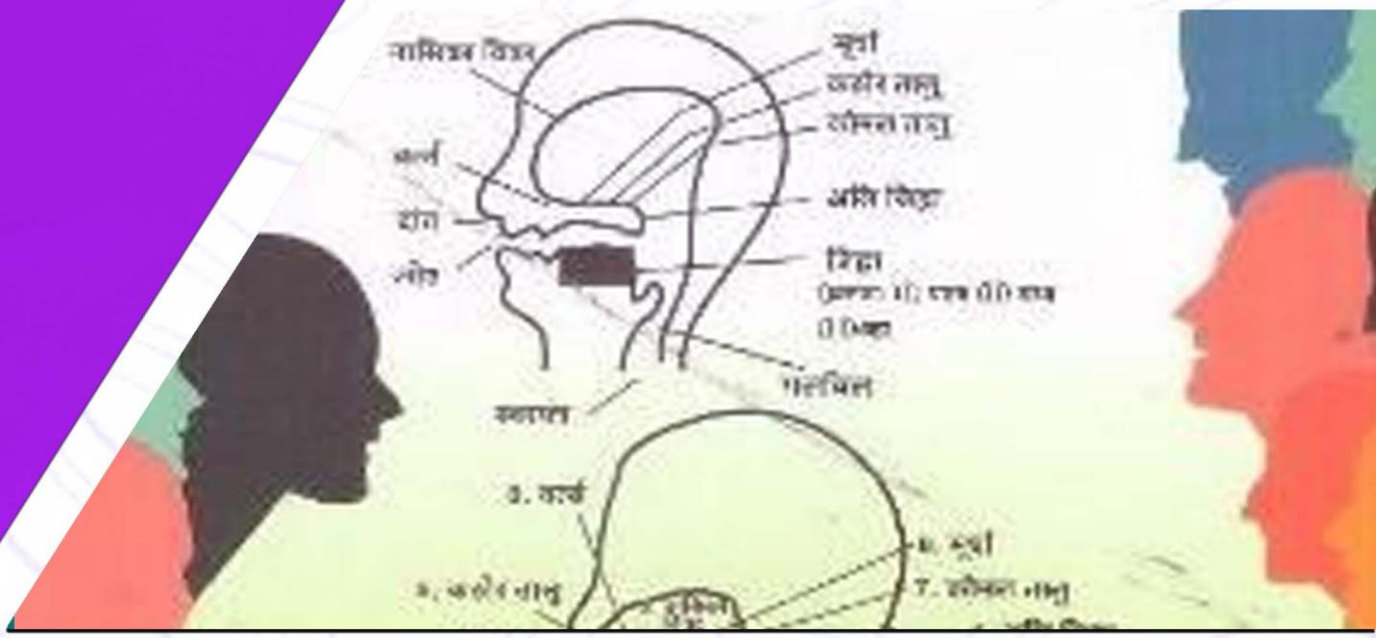

BA (HINDI)

6TH SEMESTER

Rajiv Gandhi University
www.ide.rgu.ac.in

भारतीय काव्यशास्त्र एवं भाषा विज्ञान –II

बी.ए. (हिंदी)

(षष्ठ सत्र)

BAHIN-304

RAJIV GANDHI UNIVERSITY

Arunachal Pradesh, INDIA – 791 112

BOARD OF STUDIES	
Prof. Shyam Shankar Singh, (Head) Dept. Of Hindi Rajiv Gandhi University	**Chairman**
Prof. Chandan Kumar Dept. Of Hindi Delhi University	**External Member**
Prof. Dilip Medhi Dept. Of Hindi Guwahati University	**External Member**
Prof. Oken Lego Dept. of Hindi Rajiv Gandhi University	**Member**
Dr. Arun Kumar Pandey Dept. of Hindi Rajiv Gandhi University	**Co-ordinator**

Authors

Dr. Laxmi Pandey, Dr. Taranum Khan, Dr. Seema Sharma, Dr. Kamini Taneja,

Vikas revised edition 2021

All rights reserved. No part of this publication which is material protected by this copyright notice may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior written permission from the Publisher.

"Infomation contained in this book has been published by Vikas Publishing House Pvt. Ltd, and has been obtained by its Authors from sources believed to be reliable and are correct to the best of their knowledge. However, IDE-Rajiv Gandhi University, the publishers and its Authors shall be in no event be liable for any errors, omissions or damages arising out of use of this information and specifically disclaim any implied warranties or merchantability or fitness for any particular use"

Vikas® is the registered trademark of Vikas® Publishing House Pvt. Ltd.
Vikas® PUBLISHING HOUSE PVT LTD
E-28, Sector-8, Noida: 201301 (UP)
Phone: 0120-4078900 Fax: 0120-4078999
Regd. Office: 7561 Ravindra Mansion, Ram Nagar, New Delhi - 110055
Website: www.vikaspublishing.com Email: helpline @vikaspublishing.com

विश्वविद्यालय : एक परिचय

राजीव गाँधी विश्वविद्यालय अरुणाचल प्रदेश के प्रमुख उच्च संस्थानों (पूर्व में अरुणाचल विश्वविद्यालय) में से एक है। स्वर्गीय श्रीमती इंदिरा गांधी ने जो तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री व फरवरी 1984 को रोनो हिल्स पर विश्वविद्यालय की नींव रखी थी यही विश्वविद्यालय का वर्तमान कप विद्यमान है। आरंभ से ही राजीव गांधी विश्वविद्यालय श्रेष्ठता हासिल करने और उन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए प्रयासरत है जो

आरंभ से ही राजीव गाँधी विश्वविद्यालय श्रेष्ठता हासिल करने और उन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए प्रयासरत है जो विश्वविद्यालय अधिनियम में निहित है। 28 मार्च 1985 में विश्वविद्यालय को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा सेक्शन 2 (F) के अंतर्गत अकादमिक मान्यता प्रदान की गई।

26 मार्च, 1994 में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के सेक्शन 12.V के अंतर्गत इसे वित्तीय मान्यता मिली। तब से, राजीव गांधी विश्वविद्यालय ने देश के शैक्षिक परिदृश्य में (तत्कालीन अरुणाचल विश्वविद्यालय) अपना विशिष्ट स्थान बनाया है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा गठित विशेषज्ञों की एक उच्च स्तरीय समिति द्वारा देश के उन विश्वविद्यालयों में राजीव गांधी विश्वविद्यालय को भी चुना गया जिनमें श्रेष्ठता हासिल करने की संभावनाएं व सामर्थ्य है।

9 अप्रैल 2007 से विश्वविद्यालय को मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार की एक अधिसूचना के माध्यम से केंद्रीय विश्वविद्यालय का दर्जा दिया गया।

यह विश्वविद्यालय रोनो हिल्स की चोटी पर 302 एकड़ के विहंगम प्राकृतिक अंचल में स्थित है जहां से दिक्रोंग नदी का अदभुत दृश्य देखने को मिलता है। यह राष्ट्रीय राजमार्ग 52-A से 6.5 कि.मी . और राज्य की राजधानी ईटानगर से 25 किकी दूरी पर स्थित है। दिक्रोंग पुल के द्वारा कैंपस राष्ट्रीय राजमार्ग से जुड़ा .मी . हुआ है।

विश्वविद्यालय के शैक्षिक व शोध कार्यक्रम इस प्रकार तैयार किए गए है कि वे राज्य के सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक विकास में सकारात्मक भूमिका निभा सकें। विश्वविद्यालय स्नातक स्नातकोत्तर एमफिल व . एड का कोर्स भी चलाता है। .कार्यक्रम भी संचालित करता है। शिक्षा विभाग बी .डी .एच .पी

इस विश्वविद्यालय से 15 कॉलेज संबद्ध है। विश्वविद्यालय पड़ोसी राज्यों, विशेषकर असम के छात्रों को भी शैक्षिक सुविधाएं प्रदान कर रहा है। इसके विभिन्न विभागों व इससे जुड़े कॉलेजों में छात्रों की संख्या में निरंतर वृद्धि हो रही है।

यूजीसी व अन्य फडिंग एजेंसियों की वित्तीय सहायता से संकाय सदस्य भी शोध गतिविधियों में सक्रिय रूप से भाग ले रहे हैं। आरंभ से ही विभिन्न फडिंग एजेंसियों द्वारा विश्वविद्यालय के विभिन्न शोध प्रस्तावों को स्वीकृत किया गया है। विभिन्न विभागों ने अनेक कार्यशालाओं, संगोष्ठियों व सम्मेलनों का आयोजन भी किया है। अनेक संकाय सदस्यों ने देश व विदेश में आयोजित सम्मेलनों व संगोष्ठियों में भाग लिया है देशविदेश के -

प्रमुख विद्वानों व विशिष्ट व्यक्तियों ने1 विश्वविद्यालयों का दौरा किया है और अनेक विषयों पर अपने वक्तव्य भी प्रस्तुत किए है।

2000-2001 का अकादमिक वर्ष विश्वविद्यालय के लिए सुदृढीकरण का वर्ष रहा। वार्षिक परीक्षाओं से सेमेस्टर प्रणाली में परिवर्तन व्यवधानविहीन रहा और परिणामत छात्रों के प्रदर्शन में भी विशेष सुधार देखा गया बोर्ड ऑफ पोस्ट ग्रेजुएट स्टडीज़ द्वारा बनाए गए विभिन्न पाठ्यक्रमों को लागू किया गया यूजीसी इंफोनेट कार्यक्रम के तहत ERNET इंडिया द्वारा VSAT सुविधा प्रदान की गई ताकि इंटरनेट एक्सेस प्रदान की जा सके।

मूलभूत संरचनागत सीमाओं के बावजूद विश्वविद्यालय अकादमिक श्रेष्ठता बनाए रखने में सफल रहा है। विश्वविद्यालय अकादमिक कैलेंडर का अनुशासित रूप से पालन करता है परीक्षाएं समय पर संचालित की जाती है और परिणाम भी समय पर घोषित होते हैं विश्वविद्यालय के छात्रों को न केवल राज्य व केंद्रीय सरकार में नौकरी के अवसर प्राप्त हुए है बल्कि वे विभिन्न प्रतिष्ठित संस्थाओं उद्योगों व संस्थानों में नौकरी के अवसर प्राप्त करने में सफल रहे हैं। अनेक छात्र NET परीक्षाओं मैं भी सफल हुए हैं। अनेक छात्र परीक्षाओं में भी NET | सफल हुए हैं

आरंभ से अब तक विश्वविद्यालय ने शिक्षण, पाठ्यक्रम में नवीन परिवर्तन लाने व संरचनागत विकास में महत्वपूर्ण प्रगति की है |

आईडीई एक परिचय

हमारे देश में उम शिक्षा प्रणाली को सीमित सीटों सुविधाओं और बुनियादी संसाधनों की कमी के कारण अनेक सामना करना पड़ रहा है। विषयों से जुड़े शिक्षाविद मानते है कि शिक्षा की प्रणाली से अधिक महत्वपूर्ण और जानना है। दूरस्थ शिक्षा प्रणाली इन सभी बुनियादी समस्याओं और समाजिकआर्थिक बाधाओं को दूर करने का - यह प्रणाली ऐसे लाखों लोगों की गुणवत्ता युक्त शिक्षा पाने की मांग की पूर्ति कर रही है जो अपनी रखना चाहते है मगर नियमित रूप महाविद्यालयों में प्रवेश नहीं ले पाते। यह प्रणाली उच्च शिक्षा प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले बेरोजगार कार्यरत पुरुष और महिलाओं के लिए भी मददगार सिद्ध होती है। दूरस्थ शिक्षा प्रणाली उन लोगों के लिए भी उपयुक्त माध्यम है जो सामाजिक, आर्थिक अथवा अन्य कारणों से शिक्षा और शिक्षण संस्थानों से दूर हो गए या समय नही निकाल पाये। हमारा मुख्य उद्देश्य उन लोगों को उच्च शिक्षा की सुविधाएं प्रदान करना है जो मान्यता प्राप्त विश्वविद्यालय नियमित तथा व्यावसायिक शैक्षिक पाठ्यक्रमों में प्रवेश नहीं ले पाते विशेषकर अरुणाचल प्रदेश के ग्रामीण व भौगोलिक रूप से दूरदराज स्थित क्षेत्रों में व सामान्यतया उत्तरपूर्वी - भारत के दूरस्थ स्थित क्षेत्रों में रान2008 में दूरस्थ शिक्षा केंद्र का नाम परिवर्तित कर दूरस्थ शिक्षा संस्थान रखा गया दूरस्थ शिक्षार्थियों के लिए शिक्षा के अवसरों का विस्तार करने के प्रयास जारी रखते हुए (आईटीई) आईडीई ने2013-14 के शैक्षणिक सत्र में पांच स्नातकोत्तर विषयों शिक्षा अंग्रेजी), हिंदी, इतिहास और राजनीति विज्ञानको शामिल किया है।

दूरस्थ शिक्षा संस्थान में विश्वविद्यालय के पुस्तकालय के पास ही शारीरिक विज्ञान संकाय भवन पहली मंजिल का निर्माण किया गया है। विश्वविद्याल)य परिसर राष्ट्रीय राजमार्ग 52 ए के एनईआरआईएसटी बिंदु से 6 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। विश्वविद्यालय की बसें एनईआरआईएसटी के लिए नियमित रूप से चलती रहती है।

दूरस्थ शिक्षा संस्थान की अन्य विशेषताएं

.1 **नियमित माध्यम के समकक्ष**-पात्रता, अर्हताएं, पाठ्यचर्या सामग्री, परीक्षाओं का माध्यम और डिग्री राजीव गांधी विश्वविद्यालय और विश्वविद्यालय के विभागों के समकक्ष हैं।

2. **स्वयं शिक्षण अध्ययन सामग्री -(एसआईएसएम)**छात्रों को संस्थान द्वारा तैयार और दूरत्व शिक्षा परिषद नई दिल्ली द्वारा अनुमोदित स्वय (डीईसी)ं शिक्षण अध्ययन सामग्री प्रदान की जाती है। यह सामग्री प्रदेश के समय आईडीई और अध्ययन केंद्रों में उपलब्ध कराई जाती है। यह सामग्री हिंदी विषय के अलावा सभी विषयों में अंग्रेजी में ही उपलब्ध कराई जाती है।

3. **संपर्क और परामर्श कार्यक्रम (सीसीपी)** कार्यक्रम के प्रत्येक पाठ्यक्रम में व्यक्तिगत संपर्क द्वारा लगभग 7-15 दिनों की अवधि का परामर्श शामिल है। बीपाठ्यक्रमों हालांकि व्यावसायिक पाठ्यक्रमों और .ए. के लिए सीसीपी में उपस्थिति अनिवार्य होगी। .ए के लिए सीसीपी अनिवार्य नहीं है।. एम

.4 **फील्ड प्रशिक्षण और प्रोजेक्ट** -व्यावसायिक पाठ्क्रमों में फील्ड प्रशिक्षण और संबंधित विषय में प्रोजेक्ट लेखन का आवश्यक प्रावधान होगा।

5. **परीक्षा एवं निर्देश का माध्यम** -परीक्षा और शिक्षा का माध्यम उन विषयों को छोड़कर जिनमें संबंधित भाषा में लिखने की जरूरत हो, अंग्रेजी होगा।

6. **विषय परामर्श संयोजक** -पाठ्य सामग्री को तैयार करने के लिए आईडीई विश्वविद्यालय के अंदर और बाहर विषय समन्वयकों की नियुक्ति करती है। विश्वविद्यालय द्वारा नियुक्त परामर्श समन्वयक पीसीसीपी के अनुदेशों को प्रभावी रूप से लागू करने के लिए विश्वविद्यालय के विभिन्न विभागों से जुड़े रहते हैं ये परामर्श समन्वयक परामर्श कार्यक्रम के सुचारु रूप से संचालन तथा विद्यार्थियों के एसाइनमेंट्स का मूल्यांकन करने के लिए संबंधित व्यक्तियों से संपर्क कर आवश्यक समन्वय करते हैं। विद्यार्थी भी इन परामर्श समन्वयकों से संपर्क कर अपने विषय से संबंधित परेशानियों और शंकाओं का समाधान प्राप्त कर सकते हैं।

SYLLABI-BOOK MAPPING TABLE

'भारतीय काव्यशास्त्र एवं भाषा विज्ञान – II'

Syllabi- BAHIN-304	Mapping in Book
इकाई : 1 काव्य प्रयोजन ; काव्य के गुण दोष-; काव्य गुण-; काव्य दोष- ; सारांश	**इकाई 1: I – काव्यशास्त्र।**
इकाई 2 : रस निष्पत्ति ; रस के अवयव एवं रस दोष; रस के अवयव ; रस दोष ; सारांश	**इकाई 2: I – काव्यशास्त्र।**
इकाई : 3 अलंकार ; अलंकार की अवधारणा ; अलंकारों का काव्य में स्थान ; शब्दालंकार एवं अर्थालंकार ; अनुप्रास ,श्लेष ,यमक , तथा संदेह अलंकारों के ,उत्प्रेक्षा ,रूपक ,उपमा ,वक्रोक्ति लक्षण तथा उदाहरण; सारांश	**इकाई 3: काव्यशास्त्र I –I**
इकाई : 4 हिंदी भाषा एवं हिंदी बोलियों का सामान्य परिचय ; हिंदी भाषा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि ; हिंदी की प्रमुख बोलियाँ; देवनागरी लिपि तथा उसकी विशेषताएं ; देवनागरी लिपि : एक परिचय; देवनागरी लिपि की विशेषताएं ; देवनागरी लिपि की वैज्ञानिकता ; देवनागरी लिपि में सुधार कि संभावनाएं ; सारांश	**इकाई 4: भाषा हिंदी भाषा तथा देवनागरी , लिपि I –I**
इकाई : 5 ध्वनि विज्ञान स्वनों की अवधारणा :; स्वर स्वनों का वर्गीकरण ; व्यंजन स्वनों का वर्गीकरण ; स्वन गुण एवं नियम ; स्वान परिवर्तन की दिशाएं और कारण ; स्वन परिवर्तन की दिशाएँ ; स्वं परिवर्तन के कारण ; सारांश	**इकाई 5: I – भाषा विज्ञान।**

विषय-सूची

परिचय

इकाई 1 : काव्यशास्त्र - II

1.1 काव्य प्रयोजन

1.2 काव्य के गुण-दोष

1.2.1 काव्य-गुण

1.2.2 काव्य-दोष

1.3 सारांश

इकाई 2 : काव्यशास्त्र - II

2.1 रस निष्पत्ति

- 2.2 रस के अवयव एवं रस दोष

2.1.2 रस के अवयव

2.1.3 रस दोष

2.3 सारांश

इकाई 3 : काव्यशास्त्र - III

3.1 अलंकार

3.2 अलंकार की अवधारणा

3.3 अलंकारों का काव्य में स्थान

3.4 शब्दालंकार एवं अर्थालंकार

3.5 अनुप्रास, यमक, श्लेष, वक्रोक्ति, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, तथा संदेह अलंकारों के लक्षण तथा उदाहरण

3.6 सारांश

इकाई 4 : भाषा, हिंदी भाषा तथा देवनागरी लिपि - II

4.1 हिंदी भाषा एवं हिंदी बोलियों का सामान्य परिचय

4.1.1 हिंदी भाषा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

4.1.2 हिंदी की प्रमुख बोलियाँ

4.2 देवनागरी लिपि तथा उसकी विशेषताएं

4.2.1 देवनागरी लिपि : एक परिचय

4.2.2 देवनागरी लिपि की विशेषताएं

4.2.3 देवनागरी लिपि की वैज्ञानिकता

4.2.4 देवनागरी लिपि में सुधार कि संभावनाएं

4.3 सारांश

इकाई 5 : भाषा विज्ञान - II

5.1 ध्वनि विज्ञान : स्वनों की अवधारणा

5.1.1 स्वर स्वनों का वर्गीकरण

5.1.2 व्यंजन स्वनों का वर्गीकरण

5.1.3 स्वन गुण एवं नियम

5. 2 स्वान परिवर्तन की दिशाएं और कारण

5.2.1 स्वन परिवर्तन की दिशाएँ

5.2.2 स्वन परिवर्तन के कारण

5.3 सारांश

इकाई 1 : काव्यशास्त्र - II

1.0 परिचय

संस्कृत काव्यशास्त्र ही मूलत: भारतीय काव्यशास्त्र है क्योंकि संस्कृत काव्यशास्त्र के पश्चात रीतिकालीन काव्यशास्त्र हो या हिंदी काव्यशास्त्र, उनमें संस्कृत काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों की परंपरा ही निरंतर प्रवाहित होती रही है। रीतिकालीन या हिंदी काव्यशास्त्रियों ने किसी नए सिद्धांत की स्थापना नहीं की। अत: भारतीय काव्यशास्त्र कहने का तात्पर्य संस्कृत काव्यशास्त्र ही है।

भारतीय काव्यशास्त्र काव्य का मेरुदंड है। काव्य के दृश्य और श्रव्य दो भेद हैं। इनमें श्रव्य को भी दो भागों में बांटा गया है–गद्य और पद्य। चूंकि पद्य काव्य ही काव्य के लक्षणों को विशेष रूप से धारण किए रहता है अत: काव्यशास्त्रियों ने इसे ही विवेचन का विषय चुना और माना। श्रेष्ठ काव्य की रचना के लिए काव्यशास्त्र का अध्ययन आवश्यक है। काव्य रचना के लिए परिपक्व और स्वस्थ भाषा शैली, अभिव्यक्ति का कौशल और सौंदर्य, शब्दों का चयन और इन सबका सुंदर संतुलन, औचित्य विचार आदि का विवेक और सामर्थ्य ये सब काव्यशास्त्र के अध्ययन से ही प्राप्त होते हैं।

काव्य के सौंदर्य और प्रभाव को परखने के लिए काव्यशास्त्र का अध्ययन किया जाता है। काव्यशास्त्र को कई नाम दिए गए। विजयेंद्र स्नातक 'हिंदी काव्यशास्त्र की परंपरा' की भूमिका में कहते हैं–"यदि संपूर्ण वांङ्मय का इस संदर्भ में अनुशीलन किया जाए तो काव्यशास्त्र के लिए मुख्यत: पांच शब्दों का प्रयोग होता है। ये पांच शब्द हैं–काव्यशास्त्र, काव्यालंकार, अलंकारशास्त्र, साहित्यशास्त्र और क्रियाकलाप। इन पांचों में अलंकार शब्द का प्रयोग प्राचीनतम है।" इन पांचों नामों में से काव्यशास्त्र नाम को ही सटीक मानते हुए

डॉ. भगीरथ मिश्र 'हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास' में कहते हैं–"अलंकार शास्त्र से अलंकार के विशेष विवेचन का ही अभिप्राय निकलता है। काव्य के स्वरूप और उसकी समस्याओं पर विचार करने वाले विषय को काव्यशास्त्र ही कहना विशेष उपयुक्त है क्योंकि इसके अंतर्गत अलंकारों के अतिरिक्त अन्य विषय भी समाविष्ट रहते हैं। आजकल साहित्य और काव्य के अर्थों में व्यापकता की दृष्टि से कुछ अंतर है। साहित्य शब्द को बहुधा हम शास्त्रीय, वैज्ञानिक एवं रमणीय सभी प्रकार की रचनाओं के लिए प्रयुक्त करते हैं। अत: साहित्य शास्त्र से काव्यशास्त्र शब्द हमारे उद्देश्य की पूर्ति अधिक स्पष्टता के साथ करता है।"

काव्यशास्त्र के पांच नामों में से साहित्य शास्त्र और अलंकार शास्त्र सर्वाधिक प्रचलित रहे। संस्कृत की काव्यशास्त्र परंपरा के आचार्यों जैसे– भामह, उद्भट, रुद्रट, वामन आदि ने अपने ग्रंथों के नामकरण में अलंकार शब्द को प्रमुखता दी। किसी ने 'काव्यालंकार', किसी ने 'सौंदर्यालंकार', किसी ने 'अलंकार सर्वस्व' नाम से अपने ग्रंथ का नामकरण किया। इसी तरह 'साहित्य-मीमांसा', 'साहित्य दर्पण', 'साहित्य-विद्या' आदि नामकरण भी चर्चित हुए। पंडित विश्वनाथ ने अपने सुप्रसिद्ध और महत्वपूर्ण ग्रंथ का नाम 'साहित्य दर्पण' रखकर साहित्य शब्द को प्रतिष्ठा दिलाई किंतु परवर्ती काल में आचार्य मम्मट द्वारा स्थापित 'काव्यशास्त्र' शब्द ही प्रतिष्ठित और प्रसिद्ध हुआ।

इस इकाई में हम काव्यशास्त्र के उद्भव-विकास पर दृष्टिपात करते हुए काव्य लक्षण, काव्य प्रयोजन एवं काव्य के गुण-दोषों की विवेचना करेंगे।

1.1 इकाई के उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप-

- काव्य के उद्भव एवं विकास से परिचित हो पाएंगे;
- काव्य लक्षण की विवेचना कर पाएंगे;
- काव्य के हेतु को समझ पाएंगे;
- काव्य प्रयोज़न का विश्लेषण कर पाएंगे;
- काव्य के गुणों से अवगत हो पाएंगे;
- काव्य के प्रमुख दोषों का अवलोकन कर पाएंगे।

1.5 काव्य प्रयोजन

'काव्यत्वं दुर्लभं लोके' कहा गया है तो इसका प्रणयन निरुद्देश्य कैसे हो सकता है? सामान्यतः दो प्रयोजन माने जाते हैं–आनंद की प्राप्ति और लोक कल्याण। भरतमुनि लिखते हैं–यह नाट्य (काव्य) धर्म, यश, आयु, हित और वृद्धि का अभिवर्धक और लोकोपदेश का उत्पादक होगा–

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति॥

अर्थात पहला प्रयोजन धर्म यानी कर्तव्य बोध है कि मैं समाज के प्रति उत्तरदायी हूं यानी कि कवि सामाजिक कल्याण करने वाली और आनंददात्री रचना का प्रणयन करे जिससे उसे यश प्राप्त होगा। प्रसन्नचित्त और यशस्वी होने से आयु बढ़ेगी और वह समाज का हित लंबे समय तक साध सकेगा।

भामह के अनुसार–

'धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु स।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधु काव्य निवेषणम्॥

अर्थात धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष कलाओं में दक्षता, कीर्ति और प्रीति ये काव्य के प्रयोजन हैं। वामन ने प्रीति और कीर्ति केवल दो प्रयोजन माने हैं। कुंतक के काव्य प्रयोजनों को तीन वर्गों में बांटा जा सकता है–(1) चतुर्वर्ग फलप्राप्ति (2) व्यवहार औचित्य का ज्ञान (3) चतुर्वर्ग फलास्वाद से भी बढ़ अंतःचमत्कार की प्राप्ति। मम्मट के अनुसार काव्य प्रयोजन के छह प्रकार हैं–(1) यश की प्राप्ति (2) अर्थ की प्राप्ति (3) लोक व्यवहार का ज्ञान (4) अनिष्ट निवारण (5) तात्कालिक आनंद (6) कांता सम्मित उपदेश। लगभग सभी आचार्यों ने उपरोक्त प्रयोजनों की ही चर्चा घुमा-फिरा कर की है।

साहित्य की साध्यता सोपानबद्ध होती है। उसमें हम तारतम्य का अनुभव करते हैं और एक सोपान के प्राप्त हो जाने पर दूसरा सोपान साध्य हो जाता है और पहला साधन। यह सोपानबद्धता समस्त साहित्य का ही स्वभाव है। हम यह भी कह सकते हैं कि यह साहित्य का समग्र स्वरूप है। अतः जब साध्य और साधन साहित्य के दो पक्ष हैं तब साधन और साध्य का विश्लेषण एक कठिन कार्य अवश्य है। इसका एक और कारण है। साहित्य स्वयं एक रचना है– सृष्टि है। वह जीवन के समान है, समान ही नहीं वह कल्पनागत जीवन है। अतएव साधन एवं साध्य संबंधी कठिनाई उपस्थित होती है। कुछ लोग यह मानते हैं कि मनुष्य जीवन

ा साध्य मोक्ष है, सत्यान्वेषण है, लोक कल्याण है, ईश्वर का साक्षात्कार है, चरम ानंदानुभूति है। गोस्वामी तुलसीदास जी का कथन है–

बड़े भाग मानुस तन पाया। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन गावा।

साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहि परलोक संवारा।।

सो परत्र दुख पावइ, सिर धुनि धुनि पछिताइ।

कालहिं कर्महिं ईस्वरहिं मिथ्या दोष लगाइ।

एहि तन कर फल विषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई।।

यह विचार भक्तों का ही नहीं, आधुनिक कविश्रेष्ठ, कामायनी महाकाव्यकार प्रसाद जी का भी है कि भोग-विलास ही जीवन का लक्ष्य नहीं। विलास को ही जीवन में प्रधानता देने वाली संस्कृति विनष्ट हो जाती है और इतिहास का अनुशीलन करने पर भी हम यही देखते हैं कि जिस देश अथवा जाति में भोगवाद और विलासिता का अबाधित प्रसार एवं प्रचार हुआ, उसका तुरंत पतन हुआ है। अतः जीवन का साध्य केवल भोग नहीं अर्थात केवल जीना नहीं वरन कुछ और है, विशेष रूप से मानव-जीवन का। डॉ. नगेंद्र काव्य के दो प्रयोजन मानते हैं–व्यक्तिगत आनंद तथा सामाजिक लोकमंगल।

साहित्य के साध्य युग-युग में बदलते रहते हैं और उसके विशिष्ट रूपों का युग-युग में बदलना आवश्यक भी है। जिस प्रकार विज्ञान के लिए सिद्धांततः एक साध्य है सत्यानुसंधान। उसके भीतर युगानुकूल विद्युत, रेडियो, अणुशक्ति आदि विशिष्ट रूप आते रहे, उसी प्रकार काव्य का भी सैद्धांतिक रूप से साध्य एक होता हुआ भी, युगानुकूल उसका साध्य बदलता रह सकता है। उसके बदलते रूप यह प्रमाणित करते हैं कि हमारी साहित्यिक चेतना प्रबुद्ध है और हम उस चेतना को लेकर जागरूक एवं क्रियाशील हैं।

यही स्पष्टीकरण अब तक प्रस्तुत साहित्य या काव्य के प्रयोजनों के संबंध में भी है। भारतीय परंपरा में हम काव्य प्रयोजन संबंधी जो विचार पाते हैं वे हैं–

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परिनिर्वृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।। *(मम्मट)*

धर्मार्थ काममोक्षाणां वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधु काव्यनिषेवणम्।। *(भामह)*

उपर्युक्त प्रयोजनों के अंतर्गत जीवन की सफलता के विविध पक्ष प्रकट हुए हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष – ये जीवन के पुरुषार्थ माने जाते हैं। इन पुरुषार्थों का तारतम्य है। एक के बाद हम दूसरा पुरुषार्थ प्राप्त करते हैं और इस प्रकार एक प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर, फिर वह साध्य के स्थान पर साधन बन जाता है। इन साधनों के तारतम्य में अंतिम साध्य मोक्ष है, जो साधन नहीं बनता। मोक्ष के अंतर्गत जो ध्वनि है, वह निषेधार्थपूर्ण है, विधेयतापूर्ण नहीं। मोक्ष अर्थात जीवन से निष्क्रमण। यदि जीवन से निष्क्रमण का तात्पर्य जीवन के आनंद से निष्क्रमण है, तो कोई नहीं चाहेगा।

अतः इसका तात्पर्य हुआ जीवन के दुखों से निष्कृति या मुक्ति। जीवन सुख-दुखात्मक है, अतः जब उसके दुखों से कोई मुक्त होना चाहता है, तो उसके सुखों से भी हाथ धोना पड़ता है। अतः मुक्ति आनंदहीन हुई। वह स्थिति तो जड़ सी हुई। यह जीवन को दुखपूर्ण मानने की धारणा या परिणाम् है। परंतु साहित्य या काव्य की कल्पना दूसरे प्रकार की है। वह जीवन के दुखों को भी सुखों में परिणत करने का जादू है। हमारे जीवन के दुखानुभव जब काव्य या साहित्य का रूप धारण करके आते हैं, तब वे हमें दुख नहीं वरन् सुख ही देते हैं। काव्य में रस का भी यही रहस्य है। रस के अंतर्गत जीवन की सुख-दुखात्मक अनुभूतियां आनंद में परिणत हो जाती हैं। इसी से हम संयोग-शृंगार के साथ-साथ वियोग-शृंगार, हास्य के साथ-साथ करुण और वीभत्स के साथ-साथ भयानक और रौद्र रसों को प्राप्त करते हैं।

अपने लौकिक जीवन में जिन करुण, वीभत्स और भयानक परिस्थितियों की कल्पना से भी हमारा मन सिहर उठता और शरीर थर्रा उठता है, उन्हीं परिस्थितियों को साहित्य में प्राप्त कर हम बार-बार उनका आस्वादन और परिशीलन करना चाहते हैं। यह साहित्य की रासायनिक क्रिया ही है, जो इन दुखात्मक और भयावह परिस्थितियों को रमणीय रूपों में बदल देती है। साहित्य की यह क्रिया, जो मुख्यतया जीवन की पुनः रचना क्रिया है, उसके साध्य का भी संकेत करती है। जीवन की विभीषिकाओं को प्रस्तुत कर वह यह बताती है कि वे भी जीवन के अंग हैं पर दूसरी ओर सभ्यताओं का भी चित्रण करके वह स्पष्ट करती है कि जीवन का वह स्वरूप कितना प्यारा और वांछनीय है।

साहित्य के अंतर्गत प्राप्त इन्हीं चित्रणों ने धीरे-धीरे मानव समाज को यह प्रेरणा दी कि सभ्यता और संस्कृति का विकास वही है, जिसमें विभीषिकाओं का ह्रास और सभ्यताओं की प्रचुरता और स्थिरता है। समाज के नव-निर्माण हेतु कार्य करने वाले राजनीतिज्ञों, समाज-सुधारकों और समाजशास्त्रियों को साहित्य की कल्पनाओं ने ही प्रेरणा दी है और धीरे-धीरे इन्हीं कल्पनाओं को जीवन में उतारता और साकार करता हुआ मानव जीवन-पथ पर आगे बढ़ रहा है।

साहित्य का साध्य आनंद है। मोक्ष की धारणा इसकी तुलना में जीवन से एक पलायन मात्र है। साहित्य सदैव सुख-दुखमयी जीवन परिस्थितियों का चित्रण कर हमें अनुभव, प्रेरणा और संवेदन प्रदान करता है, और इन तीनों के द्वारा उसका कार्य आनंद संपादन ही है। साहित्य में वर्णित ये घटनाएं जीवन की घटनाओं के समान कटु नहीं होती और वे वैयक्तिक संबंधों से मुक्त होती हैं।

इनके द्वारा एक सामाजिक संवेदना जागृत होती है और हम एक दूसरे के अधिक निकट हो जाते हैं। हम ऐसी स्थितियों से सचेत रहते हैं या समाज से उन्हें दूर करने का प्रयत्न करते हैं। इनसे हमारे व्यक्तित्व का विस्तार होता है और हमारी संकीर्णता नष्ट हो जाती है। इस प्रकार साहित्य की दुखात्मक परिस्थितियों से भी परोक्ष संकेत, आनंद संपादन का ही रहता है और सुखात्मक परिस्थितियों में आनंद की अजस्र धारा बहती ही रहती है।

अपने इसी साध्य द्वारा साहित्य मानव-जीवन में दानवत्व का नाश और देवत्व का विकास करता रहता है। देवत्व की कल्पना का आकर्षण हमारे जीवन में भरना साहित्य का ही काम है। इसी देवत्व की उपलब्धि अपने में करके मानव जीवन देवत्व से और सबसे महान बनता जा रहा है।

1.6 काव्य के गुण एवं दोष

काव्य के गुण एवं दोषों को पृथक-पृथक इस प्रकार समझा जा सकता है–

1.6.1 काव्य-गुण

काव्यशास्त्र काव्य के स्वरूप और उसकी समस्याओं पर विचार करता है। काव्य रचना के लिए जिस अनिवार्य अनुशासन की आवश्यकता होती है, भारतीय काव्यशास्त्र उसका निर्धारण करता है। राममूर्ति त्रिपाठी कहते हैं, "काव्य के शास्त्र से अभिप्राय उसके शासन से है–नियम विधान से है। शास्त्र इसलिए शास्त्र माना जाता है कि वह शासन करता है, कवियों को निरंकुश होने से रोकता है। काव्य का अनुशासन ही काव्य का शास्त्र है।"

वाग्भट्ट 'काव्यानुशासन' की चर्चा करते हैं, दशरूपककार धनंजय भी अनुशासन का ही समर्थन करते हैं जबकि महाभाष्यकार पतंजलि वैयाकरण होने के नाते 'शब्दशासन' की बात करते हैं। अनुशासनहीनता काव्य में अनौचित्य को जन्म देती है तथा अनौचित्य से बड़ा 'रसभंग' का दूसरा कारण नहीं होता। औचित्य निबंधन ही रस के परम समीप ले जाता है। आनंदवर्धन कहते हैं–

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य कारणम्।
औचित्योपनिबंधस्तु रसस्योपनिषत् परा॥

क्षेमेंद्र कहते हैं–'औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।'

औचित्य रसयुक्त काव्य को स्थिर जीवन शक्ति प्रदान करता है। औचित्य के बिना काव्य में रस निष्पत्ति संभव नहीं है। औचित्य का आकलन करना काव्य को अनुशासित करने की प्रक्रिया है। विजयेंद्र स्नातक कहते हैं–'काव्य के साथ शास्त्र शब्द जुड़ने से सामान्यतः शास्त्र शब्द का 'शासनात् शास्त्रम्' अर्थ होता है अर्थात जो काव्य का शासन करे, वह काव्यशास्त्र है, किंतु काव्य शासन नहीं करता। विधि-निषेध की सीमाओं में काव्य को बांधा नहीं जा सकता। अतः शास्त्र शब्द का दूसरा अर्थ–'शंसनात् शास्त्रम्' अर्थात विषय प्रतिपादन करने वाला, यह अर्थ इस संदर्भ में समीचीन प्रतीत होता है।' काव्यशास्त्र के समुचित ज्ञान के बिना काव्य का गंभीर अनुशीलन असंभव है।

आचार्य राजशेखर ने 'काव्य-मीमांसा' में लिखा है–**इह हि वाङ्मयमुभयथा शास्त्रं काव्यं च। शास्त्र पूर्वकत्वात् काव्यानां पूर्वं शास्त्रेष्वभिनिविशेषः नह्यप्रवर्तितप्रदीपास्तत्वार्थमसामर्थ्यध्यक्षयन्ति।** अर्थात शास्त्र और काव्य इन भेदों से वाङ्मय दो प्रकार का है। काव्य ज्ञान के लिए शास्त्र आवश्यक है। जैसे बिना दीपक के पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार शास्त्र ज्ञान के बिना काव्य ज्ञान असंभव है। अतः काव्य से पहले

शास्त्र का अभ्यास करना आवश्यक है।' काव्यशास्त्र में काव्य के स्वरूप और समस्याओं के साथ-साथ अलंकारों तथा काव्य से संबंधित अन्य विषयों का भी अध्ययन किया जाता है।

1.6.2 काव्य-दोष

काव्य सौंदर्य-सृजन है, काव्य रस है। दोष काव्य को अपकर्ष प्रदान करते हैं। मम्मट ने काव्यप्रकाश में कहा है कि 'मुख्य' अर्थ का अपकर्ष दोष है। काव्य में मुख्य 'रस' है, अतः रस का अपकर्षक अर्थात विघात करने वाला तत्व दोष है-

मुख्यार्थहतिर्दोषः। रसश्च मुख्यः, हतिरपकर्षः।
उद्देश्य प्रतीति विघातलक्षणः अपकर्षः हतिशब्दार्थः।

काव्य का लक्ष्य आनंदोनुभूति है। आनंद ही रस है। रस का जो अपकर्ष करे, वह दोष है।

आचार्य भरत ने काव्य-दोषों की संख्या दस बताई थी। भामह, दण्डी, वामन, आनंदवर्धन, महिम भट्ट और भोजराज ने काव्य दोषों का पुनः-पुनः निरूपण किया। परिणामतः आचार्य मम्मट के समय तक दोषों की संख्या सत्तर तक पहुंच गई। मम्मट ने इन समस्त आचार्यों द्वारा प्रस्तुत काव्य-दोषों के आधार पर नब्बे काव्य-दोषों का उल्लेख कर दिया। उन्होंने सभी काव्य-दोषों को मूलतः निम्नांकित चार वर्गों में विभक्त किया- (क) पदगत काव्य-दोष, (ख) वाक्यगत काव्य-दोष, (ग) अर्थगत काव्य दोष और (घ) रसगत काव्य-दोष।

(क) पदगत काव्य-दोष

इस वर्ग में आने वाले कुछ प्रमुख काव्य-दोषों को इस प्रकार समझा जा सकता है-

1. **क्लिष्टता**- अत्यंत कठिन अथवा दुर्बोध शब्दों का प्रयोग क्लिष्टता दोष कहलाता है।

   मंदिर अरध अवधि हरि बदि गए,
   हरि अहार चलि जात।

   'मंदिर अरध' अर्थात पंद्रह दिन और 'हरि अहार' अर्थात एक महीना। इन अर्थों की प्रतीति सहज नहीं, अत्यंत कठिन है।

2. **श्रुति कटु**- सुनने में कठोर लगने वाले शब्दों से भावावेग में विक्षिप्तता आती है।

   त्रिया अलक चक्षुश्रवा डसैं परत की डीठि
   पर क्या न विष्योत्कृष्टता करती विचारोत्कृष्टता।

   उपरोक्त पंक्तियों में रेखांकित शब्द श्रुति कटु हैं।

3. **ग्राम्यत्व**- गंवारू शब्दों के प्रयोग से काव्य में ग्राम्यत्व दोष आता है।

   मूंड पै मुकुट धरे सोहत हैं गोपाल।

   यहां मूंड ग्राम्य शब्द है, जो अब साहित्य में प्रयुक्त नहीं होता।

4. **अप्रयुक्त**- पदों का प्रयोग व्याकरण सम्मत होने के बाद भी अगर प्रयुक्त शब्द प्रचलन में न हों तो वहां अप्रयुक्त काव्य-दोष होता है।

   राजकुल भिक्षाचरण से लगे भरने पेट।

   यहां भिक्षाचरण शब्द सामान्यतः प्रचलन में नहीं है।

5. **च्युत संस्कृति**– यह काव्य–दोष वहां उत्पन्न होता है, जहां शब्दों का व्याकरण सम्मत प्रयोग नहीं किया गया होता।

राजे बिराजे मख भूमि में थे।

अरे अमरता के पुतलों! तेरे वे जयनाद।

यहां राजे, विराजे एवं तेरे शब्दों का प्रयोग व्याकरण सम्मत नहीं है।

(ख) वाक्यगत काव्य–दोष– कुछ प्रमुख वाक्यगत काव्य–दोष निम्नांकित हैं–

1. **अक्रम**– वाक्य में वाक्य–रचना की दृष्टि से शब्दों का क्रम अनुचित होने पर अक्रम काव्य–दोष होता है।

थी सर्व में अधिक मंजुल मुगधकारी।
जादू भरी मुरलिका पति राधिका थी।

यहां पति शब्द का प्रयोग राधिका के बाद होना चाहिए था।

2. **अधिकपदता**– वाक्य में अनावश्यक शब्द प्रयुक्त होने पर अधिकपदता काव्य–दोष होता है।

मेरा मन स्फटिकाकृतिनिर्मल रहे सदा गुरुदेव।

यहां स्फटिक निर्मल शब्द पर्याप्त था। आकृति शब्द का संधि–प्रयोग अनावश्यक था।

3. **वर्ण प्रतिकूलता**– वर्ण प्रतिकूलता का आशय वर्णनीय रस के प्रतिकूल वर्णों से है।

मुकुट की उटक लटक बिंबि कुंडल को।

शृंगार वर्णन के अंतर्गत यहां 'ट' वर्णों का प्रयोग दूषित लगता है।

4. **संकीर्ण**– एक वाक्य के पद का, दूसरे वाक्य में प्रयोग संकीर्ण काव्य–दोष उत्पन्न करता है।

छोड़ चन्द्र गगन में उदय होत, अब मान।

इसमें अभीष्ट वाक्य है– चंद्रगगन में उदय होत, छोड़ अब मान।

5. **न्यूनपदता**– आवश्यक होने पर भी जब काव्य में अर्थज्ञान के लिए किसी शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता तब न्यूनपदता काव्य–दोष होता है।

पानी पावक पवन प्रभु, ज्यों असाधु–साधु।

यहां असाधु के आगे प्रति या संग सरीखा कोई शब्द अर्थबोध के लिए आना चाहिए।

(ग) अर्थगत काव्य–दोष

कुछ प्रमुख अर्थगत काव्य–दोषों को इस प्रकार समझा जा सकता है–

1. **दुष्क्रम**– काव्योक्ति में लोक या शास्त्र विरुद्ध शब्द–क्रम होने पर दुष्क्रम काव्य–दोष होता है।

राजन! देहु तरंग मोहि अथवा देहु मतंग।

हाथी और घोड़ा : पहले हाथी मांगना चाहिए, फिर घोड़ा। यहां लोकनीति के विरुद्ध कथन है।

2. **पुनरुक्ति**– पुनरुक्ति दोष विभिन्न शब्दों के प्रयोग से अर्थ की आवृत्ति होने पर उत्पन्न होता है।

   दृष्य बड़ा था रम्य, मंजु, सुंदर, मनमोहन।

   यहां मंजु, सुंदर, मनमोहन शब्दों की रम्य शब्द के अर्थ की दृष्टि से पुनरुक्ति है।

3. **अप्रतीत**– जब ऐसे शब्द का प्रयोग किया जाता है जो उस अर्थ में किसी विशेष शास्त्र में ही प्रयुक्त होता है, तो अप्रतीत काव्य–दोष होता है।

   तत्व ज्ञान पाकर हुए आशय दलित समस्त।

   यहां वासना के अर्थ में प्रयुक्त आशय शब्द अप्रतीत दोष उत्पन्न करता है।

4. **अश्लीलता**– लज्जा, अमंगल या जुगुप्सा सूचक शब्दों का प्रयोग कविता में अश्लीलता दोष पैदा करता है। ऐसे शब्द दुहरे अर्थ व्यक्त करते हैं।

   अभिप्रेत पद प्रिया ने पाया।

   यहां 'अभिप्रेत पद पाया' का अर्थ 'अभीष्ट पद प्राप्त किया' है। अन्य अर्थ में 'प्रेत पद पाया' यानी मर गया– अमंगल सूचक है।

5. **संदिग्ध**– संदेहपूर्ण अर्थ देने वाली काव्य रचना में संदिग्ध काव्य–दोष होता है।

   जीना चाहो देशहित या इन्द्रियसुख हेतु।

   यहां स्पष्ट नहीं हो पाता कि देशभक्ति का पक्ष लिया जा रहा है अथवा इन्द्रिय सुख का।

(घ) रसगत काव्य–दोष

इस वर्ग के कुछ प्रमुख काव्य–दोष निम्न प्रकार से हैं–

1. **विभाव–अनुभाव की कष्टकारिता**– यह काव्य–दोष वहां होता है, जहां विभाव या अनुभाव किस रस से संबद्ध है– यह जानने में कठिनाई हो।

   सकल छांड़ि बन जाउ, यह हिय हिय करत बिचारू।

   'सकल छांड़ि बन जाउ' में वाच्य अनुभाव शृंगार रस से संबंधित है या शांत रस से, यह स्पष्ट नहीं है।

2. **स्वशब्द वाच्य**– रस, भाव, विभाव–अनुभाव और संचारी भाव सूचक शब्द का कथन यदि स्वयं कर दिया जाए तो स्वशब्द वाच्य काव्य–दोष होता है। ऐसे कथन से रस अभिव्यक्त नहीं हो पाता।

   कौशल्या क्या करती थी,
   कुछ–कुछ धीरज धरती थी।

   यहां 'धीरज' शब्द का प्रयोग सदोष है।

3. **रस की पुनरावृत्ति**– किसी रस के परिपाक हो जाने पर भी उसकी बार–बार चर्चा किए जाने पर यह काव्य–दोष उत्पन्न होता है।

उदाहरणार्थ– साकेत के नवम सर्ग तथा प्रियप्रवास में विप्रलम्भ श्रृंगार बार–बार वर्णित है।

4. **प्रतिकूलविभाव ग्रहण**– वर्ण रस के विरोधी रस संबंधी विभाव का ग्रहण करना इस काव्य–दोष के अंतर्गत आता है। यथा–

मान जाओ तनिक मुस्करा दो प्रिये,
यह बीता समय लौट सकता नहीं।

यहां श्रृंगार रस प्रसंग में बीते यौवन की चर्चा है, जो शांत रस का विभाव है।

5. **अति विस्तृति**– वर्णन में अति करने पर अतिविस्तृति दोष की सृष्टि होती है।

पद्मावत में अस्त्र–शस्त्र एवं व्यंजनों का वर्णन, जयद्रथवध में स्वर्ग वर्णन का विस्तार इसी प्रकार के काव्य–दोष से युक्त है।

6. **प्रकृति विपर्यय**– स्वभाव के विपरीत वर्णन प्रकृति विपर्यय काव्य–दोष कहलाता है।

कुमारसंभव में शिव–पार्वती का श्रृंगार वर्णन, कामायनी में इड़ा के प्रति मनु का दुष्टतापूर्ण व्यवहार प्रकृति विपर्यय है।

7. **प्रतिकूल प्रतिदान**– बिना अवसर जब रस का प्रतिपादन किया जाता है, तब इस प्रकार का काव्य–दोष प्रकट होता है।

रामचंद्रिका में दसरथ मरण के मौके पर राम का अपनी मां कौशल्या को उपदेश देना इसका उदाहरण है।

1.7 सारांश

काव्य की आत्मा खोजने और उसकी उत्कृष्टता का रहस्य जानने की प्रक्रिया में काव्यशास्त्र के विभिन्न सिद्धांतों और संप्रदायों का जन्म और विकास हुआ। जिस प्रकार दर्शनशास्त्री आत्म–तत्व को जानने की प्रक्रिया में स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्मता तक पहुंचते हैं उसी प्रकार काव्यशास्त्र के अध्येता, आचार्यगण काव्य के बाह्य शारीरिक धर्म यानी अलंकार और भीतरी आत्मिक धर्म यानी रस के बीच यात्रा, तर्क–वितर्क, विवेचन करते रहे और इस तरह पांच संप्रदाय विकसित और प्रतिष्ठित हुए।

काव्य वह है जो निर्दोष हो, गुणयुक्त हो, अलंकारों से अलंकृत हो और रस समन्वित हो और कवि वह है जो ऐसे काव्य की रचना करता है एवं यश और कीर्ति पाया करता है। अनेक आचार्यों ने कुछ इसी तरह के काव्य को प्रेरक और सुफलदायक बताया। काव्य का स्वरूप उसके लक्षणों या गुणों द्वारा निर्धारित किया जाता है। अनेक विद्वानों ने काव्य के स्वरूप को निर्धारित करने के लिए अपने–अपने मतानुसार अनेक परिभाषाएं दी हैं।

तरकारी में नमक या मसालों की मात्रा अनुचित हो तो तरकारी बेस्वाद हो जाती है उसी तरह काव्य में यदि करुण रस के प्रसंग में रस की मात्रा कम या ज्यादा हो या अन्य रस समाविष्ट हो जाएं तो काव्य निम्न कोटि का हो जाता है। जिस तरह क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर से मिलकर जीव के शरीर का निर्माण हुआ है उसी तरह ये काव्य लक्षण भी आपसी तालमेल से काव्य का निर्माण करते हैं। अतः सभी अपनी-अपनी स्थिति में महत्वपूर्ण हैं।

काव्य सृजन की प्रक्रिया के संबंध में अनेक मत हैं। कोई केवल शारीरिक दृष्टि से, कोई मानसिक और कोई आध्यात्मिक दृष्टि से इसका विश्लेषण करते हैं, परंतु काव्य-सृजन की प्रक्रिया एक साथ शारीरमानसात्मिक प्रक्रिया है। इसमें शरीर प्रमुखतया साधन और माध्यम है। प्रमुखतया क्रिया मनस्तत्व की है, जिसमें चेतना आत्मतत्व को स्पर्श और जागृत करती है।

रुद्रट के विचार में सहजा प्रतिभा जन्मजात होती है और उत्पाद्या शास्त्र, लोकानुभव और संगत आदि से प्राप्त हो सकती है। इसमें संदेह नहीं कि सहजा और उत्पाद्या इन दोनों ही काव्य प्रतिभाओं में अंतर किया जा सकता है। सहजा प्रतिभा अधिक क्षमताशाली, स्वतः स्फूर्त और अजस्र सर्जनाशक्ति है, जबकि इसकी तुलना में उत्पाद्या प्रतिभा कम बलशाली, अविशिष्ट, प्रेरणास्फूर्त और कभी-कभी जागृत सर्जना शक्ति है। दोनों में अंतर होते हुए भी यह विचारणीय है कि क्या जन्मजात या सहजा प्रतिभा के न होने पर भी उसे सत्संग या प्रयत्न आदि से प्राप्त किया जा सकता है?

साहित्य की साध्यता सोपानबद्ध होती है। उसमें हम तारतम्य का अनुभव करते हैं और एक सोपान के प्राप्त हो जाने पर दूसरा सोपान साध्य हो जाता है और पहला साधन। यह सोपानबद्धता समस्त साहित्य का ही स्वभाव है। हम यह भी कह सकते हैं कि यह साहित्य का समग्र स्वरूप है। अतः जब साध्य और साधन साहित्य के दो पक्ष हैं तब साधन और साध्य का विश्लेषण एक कठिन कार्य अवश्य है। इसका एक और कारण है। साहित्य स्वयं एक रचना है– सृष्टि है। वह जीवन के समान है, समान ही नहीं वह कल्पनागत जीवन है। अतएव साधन एवं साध्य संबंधी कठिनाई उपस्थित होती है।

जीवन सुख-दुखात्मक है, अतः जब उसके दुखों से कोई मुक्त होना चाहता है, तो उसके सुखों से भी हाथ धोना पड़ता है। अतः मुक्ति आनंदहीन हुई। वह स्थिति तो जड़ सी हुई। यह जीवन को दुखपूर्ण मानने की धारणा या परिणाम है। परंतु साहित्य या काव्य की कल्पना दूसरे प्रकार की है। वह जीवन के दुखों को भी सुखों में परिणत करने का जादू है। हमारे जीवन के दुखानुभव जब काव्य या साहित्य का रूप धारण करके आते हैं, तब वे हमें दुख नहीं वरन् सुख ही देते हैं। काव्य में रस का भी यही रहस्य है।

भरत ने काव्य-दोषों की संख्या दस बताई थी। भामह, दण्डी, वामन, आंनदवर्धन, महिम भट्ट और भोजराज ने काव्य दोषों का पुनः-पुनः निरूपण किया। परिणामतः आचार्य मम्मट के समय तक दोषों की संख्या सत्तर तक पहुंच गई। मम्मट ने इन समस्त आचार्यों द्वारा प्रस्तुत काव्य-दोषों के आधार पर नब्बे काव्य-दोषों का उल्लेख कर दिया। उन्होंने सभी काव्य-दोषों को मूलतः निम्नांकित चार वर्गों में विभक्त किया– (क) पदगत काव्य-दोष, (ख) वाक्यगत काव्य-दोष, (ग) अर्थगत काव्य दोष और (घ) रसगत काव्य-दोष।

1.8 मुख्य शब्दावली

- **जिज्ञासा** : जानने की इच्छा।
- **अध्येता** : अध्ययनकर्ता।
- **आत्मिक** : आत्मा से संबंधित।
- **सूक्ति** : सुंदर कथन।
- **दृष्टिगोचर होना** : दिखाई देना।
- **प्रधान** : मुख्य, प्रमुख।
- **वध** : हत्या।
- **स्वानुभूति** : स्वयं का अनुभव।
- **प्रागैतिहासिक** : इतिहास से पूर्व।
- **संबद्ध** : संबंधित।
- **तथ्यात्मक** : यथार्थ पर आधारित।
- **कोटि** : श्रेणी।
- **वैयक्तिक** : व्यक्तिगत, नीजी।
- **अभावानुभूति** : अभाव (कमी) का अनुभव।
- **अंतर्निहित** : शामिल।
- **पुनरावृत्ति** : दुहराव।
- **आत्मस्थ** : आत्मा में स्थित।
- **बेस्वाद** : बिना स्वाद के।
- **तरकारी** : सब्जी।
- **लवण** : नमक।

1.9 'अपनी प्रगति जांचिए' के उत्तर

1. सात (रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि, औचित्य और चमत्कार)
2. भरतमुनि
3. (क) गलत, (ख) सही
4. वाक्यम् रसात्मकं काव्यम्।
5. अग्नि पुराण
6. (क) सही, (ख) गलत

7. तीन (काव्य-प्रतिभा, वेद-ज्ञान, लोक-व्यवहार)

8: प्रतिभा

9. (क) गलत, (ख) सही

10. आनंद की प्राप्ति एवं लोकहित

11. धर्म यानी कर्तव्य बोध

12. (क) गलत, (ख) सही

13. क्षेमेंद्र

14. काव्य-दोष

15. (क) सही, (ख) गलत

1.10 अभ्यास हेतु प्रश्न

लघु-उत्तरीय प्रश्न

1. संस्कृत काव्यशास्त्र को ही मूलत: भारतीय काव्यशास्त्र क्यों कहा जाता है?
2. काव्य के मूलभूत भेदों का उल्लेख कीजिए।
3. काव्य लक्षण के संदर्भ में कविराज विश्वनाथ का दृष्टिकोण क्या है?
4. काव्यालंकार में काव्य हेतु के बारे में क्या कहा गया है?
5. भरतमुनि ने काव्य का प्रयोजन क्या बताया है?

दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न

1. काव्यशास्त्र के उद्‌भव एवं विकास पर प्रकाश डालिए।
2. काव्य लक्षण से आप क्या समझते हैं? विवेचना कीजिए।
3. काव्य हेतु के संबंध में विभिन्न विद्वानों के मत क्या हैं? अपना मत भी स्पष्ट कीजिए।
4. काव्य प्रयोजन पर सारगर्भित निबंध लिखिए।
5. काव्य के गुण-दोषों का उल्लेख कीजिए।

1.11 आप ये भी पढ़ सकते हैं

1. डॉ. भगीरथ मिश्र, *काव्यशास्त्र*, विश्वविद्यालय प्रकाशन गोरखपुर-1957
2. डॉ. प्रेमनारायण शुक्ल, *हिन्दी साहित्य में विविध वाद*, पद्मजा प्रकाशन कानपुर 2010-वि.सं.
3. डॉ. वेंकट शर्मा, भूमिका नगेंद्र, *आधुनिक हिंदी साहित्य में समालोचना का विकास*, आत्माराम एंड संस दिल्ली-1967

इकाई 2 : काव्यशास्त्र - II

2.0 परिचय

रस सिद्धांत काव्यशास्त्र का मूल एवं महत्वपूर्ण सिद्धांत है। काव्यशास्त्रीय अध्ययन की परंपरा का आरंभ इसी सिद्धांत से किया जाता है। यह काव्य की आत्मा है। 'रसो वै स:' रस ही वह है। वह अर्थात् आत्मा, परमात्मा और अलौकिक शक्ति। आत्मा के अस्तित्व पर ही देह का अस्तित्व संभव है। भिन्न रूपों में उपस्थित परमात्मा की तरह यह भी भिन्न-भिन्न काव्यीय रूपों में आस्वादन का अनुभव कराता है।

काव्य शास्त्र का दूसरा महत्वपूर्ण सिद्धांत 'अलंकार सिद्धांत' है। रस आत्मा है तो अलंकार काव्य का शरीर है। अलंकार काव्य शरीर के बाह्य धर्म हैं तथा गुणालंकार के रूप में आंतरिक धर्म भी हैं इसलिए इसे काव्य की आत्मा मानने का विवाद भी चला। अलंकार शोभावर्द्धक आभूषण हैं जो काव्य की शोभा बढ़ाते हैं। 'शब्दार्थो सहितौ काव्यम्' अर्थात् शब्द और अर्थ से मिलकर काव्य बनता है। इसी को आधार बनाकर अलंकार के इन प्रकारों का अध्ययन किया गया है– शब्दालंकार, अर्थालंकार। अलंकारों का वर्गीकरण अर्थात अलंकारों के भेदों या प्रकारों के साथ 'अलंकार' की अवधारणा, विभिन्न विद्वानों द्वारा अलंकार सिद्धांत की स्थापनाओं की जानकारी इस शीर्षक के अंतर्गत प्राप्त होती है।

रीति संप्रदाय सदैव प्रासंगिक रहा है। मनुष्य जीवन हो या काव्य रचना (साहित्य रचना) जीने व रचने की कोई न कोई रीति होती है अत: काव्यशास्त्र के इस महत्वपूर्ण सिद्धांत की प्रासंगिकता बनी रहेगी। रीति काव्यात्मा नहीं हो सकती। यह एक साधन है, साध्य तक पहुंचने का। आचार्य वामन ने इसे प्रतिष्ठित करके काव्यशास्त्र पर उपकार

किया है। यह सिद्धांत अन्य लक्षणों का साथी है और सभी सिद्धांत एक दूसरे के अन्योन्याश्रित हैं।

आगे चलकर आचार्य आनंदवर्धन ने ध्वनि को काव्यात्मा घोषित किया। ध्वनि काव्यात्मा तो नहीं है लेकिन रस जो काव्यात्मा है की सहायक, उपकारक हो सकती है। ध्वनि अर्थात् व्यंजना जिसका संबंध वक्रोक्ति से भी है। अतः ध्वनि और अलंकार का घनिष्ठ संबंध है। आनंदवर्धन का ग्रंथ 'धवन्यालोक' प्रसिद्ध एवं महत्वपूर्ण ग्रंथ है जो ध्वनि को व्याख्यायित करता है तथा अन्य काव्य लक्षणों से इसके संबंध को दर्शाता है।

काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति सिद्धांत का स्थान विशेष महत्व का है। वक्रोक्ति, व्यंजना के माध्यम से अलंकार और ध्वनि से संबंधित है, अतः यह विस्तृत अध्ययन को आधार प्रदान करता है। आचार्य कुंतक ने 'वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्' कहकर इसे काव्य की आत्मा घोषित किया है। यह काव्यात्मा तो नहीं है लेकिन काव्यात्मा तक पहुंचने तक सर्वोत्तम साधन है। वक्रोक्ति करना, कहना, लिखना साहस और नैतिकता की मांग करता है। इसके मूल में सत्य छिपा रहता है अतः यह महत्वपूर्ण दार्शनिक व्याख्या उपस्थित करने वाला सिद्धांत है।

काव्यशास्त्र का अंतिम मान्य सिद्धांत औचित्य है जिसकी चर्चा लगभग सभी आचार्यों ने प्रथम सिद्धांत 'रस' के समय से ही की है। भरतमुनि से अद्यतन सभी आचार्य औचित्य के महत्व को स्वीकार करते हैं। यह काव्यात्मा रस की भी आत्मा माना गया है। औचित्य सिद्धांत को प्रणेता या व्यवस्थापक आचार्य माना गया है। औचित्य सिद्धांत के प्रणेता या व्यवस्थापक आचार्य क्षेमेंद्र ने 'औचित्य विचार चर्चा' में इसके संपूर्ण स्वरूप पर प्रकाश डालकर यह सिद्ध किया है कि जीवन और साहित्य के हर क्षेत्र में औचित्य आवश्यक है।

इस इकाई में हमारे अध्ययन का विषय काव्यशास्त्र का प्रथम सिद्धांत 'रस' है। इसमें हम इसकी अवधारणा, परिभाषाएं, स्वरूप, सभी रसों का परिचय, रस निष्पत्ति एवं रस के अवयवों का अध्ययन करेंगे।

2.1 इकाई के उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- रस की अवधारणा एवं इसके अलौकिकत्व को समझ पाएंगे;
- रस की परिभाषा एवं स्वरूप से अवगत हो पाएंगे;
- सभी रसों से परिचित हो पाएंगे;
- रस निष्पत्ति एवं रस के अवयवों की विवेचना कर पाएंगे।

2.2 रस : अवधारणा एवं अलौकिकत्व

जिस तरह से बहुत से रूपों में परब्रह्म प्रकट होकर भक्तों और ज्ञानियों एवं मुमुक्षुओं को आश्चर्यचकित कर देता है उसी तरह रस भी काव्य में आविर्भूत होकर सहृदयों को खुशी देता है। साहित्य में सभी प्रकार के अंगों, वेद, वेदांग, ब्राह्मण उपनिषद्, आयुर्वेदशास्त्र, रामायण और महाभारत आदि में रस अलग-अलग अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

हेमकोष के अनुसार–

"रसः स्वादे, जले वीर्ये, शृङ्गारादौ विषे द्रवे।
रागे गृहे तथा धातौ तिक्तादौ पारदेऽपि च॥

स्वाद, जल, वीर्य, शृंगारादि रस, विष, द्रव, पारद, राग, गृह, धातु, तिक्त ये सभी रस से जाने जाते हैं।

रस का निर्वचन शब्द-प्रधान व्याकरणशास्त्र में चार तरह से हुआ है–

1. **रस्यते आस्वाद्यते इति रसः** – इस व्युत्पति के अनुसार जो पदार्थ आस्वाद के विषय बनते हैं, उन्हें रस नाम से अभिहित किया जाता है जैसे– परमात्मरूप रस (साधन का रस) मधुर, अम्ल, कटु, कषाय, तिक्त आदि भोज्य पदार्थों एवं सोम, गन्ध, मधु आदि वस्तुओं को भी रस नाम से जाना जाता है।
2. **रस्यते अनेन इति रसः** – इस व्युत्पत्ति के अनुसार आस्वाद कराने वाले पदार्थ रस शब्द से विदित होते हैं यथा-शब्द राग, संगीत, वाद्य, वीर्य शरीर आदि रस पद-बोध्य हैं।
3. **रसति रसयति वा रसः** – जो व्याप्त हो जाता है या स्वयं सभी को व्याप्त कर लेता है, वह भी 'रस' पद बोध्य होता है। यथा-पारद, जल, शरीर को पुष्ट बनाने वाली धातु या अन्य द्रव्य सभी रस होते हैं–
4. **रसनं रसः आस्वादः** – जो आस्वाद स्वरूप है, उसे रस कहते हैं। इस व्युत्पत्ति के अनुसार शृंगार, हास्य, करुण आदि को रस कहा जाता है क्योंकि सहृदयों द्वारा उनका आस्वाद किया जाता है।

विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव तथा स्थायी भाव का स्वरूप

विभाव

विभाव सहृयामानस में स्थायी रूप से रहने वाले रति आदि स्थायी भावों को उद्बुद्ध एवं उत्पन्न करते हैं। इसीलिए वे विभाव कहलाते हैं। साथ ही कहा गया है–

विभावयन्ति इति विभावाः इस व्युत्पत्ति के अनुसार भी विभाव शब्द की सार्थकता स्पष्ट हो जाती है। स्थायी भावों को उद्बुद्ध एवं उत्पन्न करने के कारण ही विभाव के दो भेद होते हैं-

1. **आलम्बन विभाव**–जिनका आलम्बन लेकर रति आदि स्थायी भाव उद्बुद्ध होते हैं, वे नायक-नायिकादि आलम्बन विभाव कहलाते हैं।
2. **उद्दीपन विभाव**–आलम्बन द्वारा उद्बुद्ध भावों को जो उद्दीप्त करते हैं, वे उपवन, सुधाकर, कमलाकर, चारू-चन्द्रिका, वाद्य-वीणा मलयसमीरादि उद्दीपन विभाव कहलाते हैं।

अनुभाव

सहृदय-हृदय में रति आदि स्थायी भावों को जो उद्बुद्ध एवं उद्दीप्त होने पर अपने आप से जो शारीरिक विकास एवं आङ्गिक चेष्टाएं होने लगती हैं। हृदय के आन्तरिक भाव मुख आदि अङ्गों पर नर्तन करने लगते हैं। नयनों में विचित्र-भांङ्गिमाएं होने लगती हैं। वस्तुतः ये अश्रु,

स्वेद, रोमांच, कम्पनादि शारीरिक विकार एवं भ्रूभङ्ग कटाक्ष-विक्षेपादि शारीरिक चेष्टाएं ही अनुभाव कहलाती हैं।

1. **सात्विक अनुभाव :** ये संख्या में आठ होते हैं।

जैसे–स्वेद स्तम्भोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः। वेवर्ण्यम् अश्रु प्रलयः इत्यष्टौ सात्त्विकाः मताः।

स्वेद, स्तम्भ, रोमांच, स्वरभङ्ग, वेपुथ, वैवर्ण्य, अश्रु तथा प्रलय- ये आठ सात्विक भाव होते हैं।

2. **कायिक अनुभाव :** भू-अङ्ग, कटाक्ष, भुजाक्षेप आदि कायिक अनुभाव होते हैं।

3. **वाचिक अनुभाव :** मधुर वचन तथा वाणी के अन्य प्रकार वाचिक अनुभाव होते हैं।

व्यभिचारी भाव

व्यभिचारी भाव रति इत्यादि स्थायी भावों को पुष्ट करते हुए उनकी अभिव्यक्ति में सहकारी होते हैं। चिन्ता, औत्सुक्य आदि का भाव काव्य तथा नाटक से संचारी कहलाते हैं। किसी भी रस के साथ इनका निश्चित सम्बन्ध नहीं होता। इनमें कोई एक भी कई रसों का उपकारक हो सकता है। इसलिए अनेक रसों में व्यभिचरण (संचरण) करने के कारण ही ये संचारी भाव या व्यभिचारी भाव कहलाते हैं।

व्यभिचारी भाव संख्या में 33 होते हैं– विर्वेद, ग्लानि, शङ्का, असूया, मद, श्रम, आलस्य दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीड़, चपलता, हर्ष, आवेग, जाड्य, गर्व, विषाद, औत्सुक्त्य, निद्रा, अपस्मार, सुप्त, प्रबोध, अमर्ष, अविहत्था, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, भरण, त्रास, वितर्व।

इस प्रकार ये 33 व्यभिचारी भाव होते हैं।

स्थायी भाव

मनुष्य के हृदय में होने वाले मानस-संस्कार या वासना को ही भाव कहते हैं जो हर मनुष्य के हृदय में चित्रवृत्ति की तरह सोयी हुई अवस्था में विद्यमान रहते हैं और जैसे ही अवसर मिलता है ये जाग्रत हो जाते हैं। ये वासना रूपी भाव मनुष्य के हृदय में लगातार स्थायी रूप से विद्यमान रहते हैं, इसलिए इन्हें स्थायी भाव कहते हैं। मानव की सभी चेष्टाओं का आधार ये स्थायी भाव ही हैं। आचार्य धनञ्जय ने स्थायी भाव को साक्षात् लवणाकार के समान कहा है। जैसे लवणाकार में डाला गया प्रत्येक पदार्थ नमक ही बन जाता है, वैसे ही जो विरुद्ध या अविरुद्ध भावों से विच्छन्न न होता हुआ दूसरे पदार्थों को आत्मसात कर लेता है, उसे स्थायी भाव कहते हैं।

स्थायी भाव रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय तथा शम के भेद से कुल नौ प्रकार का होता है।

रस-निष्पत्ति-विषयक प्रमुख चार मत

रस के विषय में महामुनि भरत की मान्यता अलङ्कारशास्त्र के लिए अमूल्य देन है।

महामुनि भरत की यह परिभाषा–

विभावनुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पतिः।

अर्थात्, विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। भरत की यह मान्यता अलङ्कारशास्त्र के आचार्यों के लिए एक आदर्श है। आगे आने वाले आचार्यों ने इसी आधार पर अपनी-अपनी विचारधाराओं को विशदता प्रदान की–

प्रथम मत : आचार्य भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद

आचार्य भट्टलोल्लट उत्पत्तिवादी हैं। उन्होंने भरत के रस-सूत्र की व्याख्या अद्भुत ढंग से की। भट्टलोल्लट विभाव एवं व्यभिचारी भावों के संयोग से अनुकार्य रामादि में रस की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं।

वेदान्त की यह मान्यता भट्टलोल्लट की मान्यता का आधार है। जिस प्रकार वास्तविक सर्प के विद्यमान न होने पर भी अज्ञानवश रज्जु को सर्प समझकर भय आदि कार्यों की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार से रामादि में स्थित भाव के नट में वास्तविक रूप में न होने पर भी अनुकरण आदि के चातुर्य से सामाजिक उसे भ्रमवश वास्तविक ही समझ बैठते हैं। फलस्वरूप उससे सामाजिक के हृदय में भी एक चमत्कार का उदय होने लगता है। भट्टलोल्लट के अनुसार यह चमत्कार ही रस है। इस भांति आचार्य भट्टलोल्लट के अनुसार रस मुख्य रूप से अनुकार्य रामादि में रहता है। परन्तु अनुकरण आदि की कुशलता से नट में भी उसकी प्रतीति होने लगती है।

द्वितीय मत : आचार्य शंकुक का अनुमितिवाद

शंकुक ने भरत के रस-सूत्र की व्याख्या अभिनव रूप में की। उसके अनुसार विभाव, अनुभाव और संचारी भाव रस के अनुमापक होते हैं और रस 'अनुमाप्य' होता है। इसलिए उसके अनुसार संयोगात् का अर्थ अनुमाप्य-अनुमापकभावत् तथा निष्पत्ति का अर्थ अनुमिति होता है।

आचार्य शंकुक का अनुमितिवाद न्यायमतानुसारी है। प्रमाण-शास्त्र होने के नाते न्याय में अनुमिति की प्रधानता स्वीकार की गई। जिस भांति नैयायिक कुहरे को धुंआ समझकर वहीं अग्नि का अनुमान कर लेते हैं उसी भांति आचार्य शंकुक के अनुसार नट में वास्तविक रस के न रहने पर भी अभिनय-कौशल से उसमें रामादिगत रति का अनुमान कर लिया जाता है। इसमें एक विलक्षता होती है। इसलिए आचार्य मम्मट ने शंकुक के अनुमितिवाद को प्रस्तुत करते समय-अन्यानुमीयमान विलक्षणः शब्द का प्रयोग किया है। यद्यपि नट के विभावादि कृत्रिम होते हैं, किन्तु अभिनय कुशलता के कारण वे कृत्रिम से नहीं लगते। आचार्य मम्मट ने-कृत्रिमैरपि तथा अनभिमन्यमानेः कहकर इसी अभिप्राय को घोषित किया है। श्री शंकुक के अनुसार सामाजिक के रसास्वाद का कारण उसकी वासना संस्कार के बल से अनुमीयमान रस सामाजिक की चर्वणा का विषय बन जाता है।

तृतीय मत : आचार्य भट्टनायक का भुक्तिवाद

आचार्य भट्टनायक ने भरत के रससूत्र की व्याख्या कर एक नवीन उद्भावना को जन्म दिया। वे सामाजिक में रस की स्थिति स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार रस भोज्य है तथा विभावादि उसके भोजक हैं। अतः उनके अनुसार संयोगात का अर्थ भोज्य-भोजकभावात् एवं निष्पत्ति का अर्थ मुक्ति है। भट्टनायक ने रस सम्बन्धी अन्य मान्यताओं का निराकरण किया है। भट्टलोल्लट मुख्य रूप से तटस्थ रामादि में गौण रूप से तटस्थ नट आदि में रसोत्पत्ति

असम्भव है। उसका गूंगे के समान बस आस्वाद ही किया जा सकता है। अतएव साहित्य-समीक्षकों ने रस को वेद्यान्तर सम्पर्क शून्य, अखंड चिन्मय एवं स्वयंप्रकाश बताकर समस्त भारतीय काव्यशास्त्र का समीक्षा-सिद्धान्त रस को ही प्रमुख मानदंड के रूप में स्वीकार किया है।

2.3 रस की परिभाषाएं एवं स्वरूप

रस एक अलौकिक स्थिति है, आत्मानुभूति है, ब्रह्मानंद सहोदर है। काव्य के सृजन, पठन, श्रवण और देखने से सर्जक, दर्शक, पाठक और श्रोता उस भाव-भूमि पर पहुंच जाता है, जहां पर केवल निर्विकल्प, निर्लेप, शुद्ध आनंदमयी चेतना का ही साम्राज्य होता है। उस भावभूमि को प्राप्त कर लेने की स्थिति का नाम ही रस है।

काव्य सहृदय सामाजिक को या सर्जक को रस की भावभूमि पर पहुंचाकर ही सार्थक होता है। यदि वह ऐसा करने में, इस भावदशा तक पहुंचाने में असमर्थ है तो वह काव्य कहलाने का अधिकारी नहीं। उस शुद्ध, आनंदमयी स्थिति तक पहुंचने के लिए सर्जक एवं सहृदय को भी निर्मल हृदय का अधिकारी होना चाहिए। वह दुर्बल सांसारिक बंधनों की उपेक्षा कर काव्य के पठन, सृजन, श्रवण में डूब जाए तभी उस भाव भूमि तक पहुंच सकता है। अन्यथा मोह-माया के, छल-कपट के व्यापार में रमा हृदय उसे उस आनंदानुभूति से विरक्त या दूर ही रखेगा। प्राचीन काव्यशास्त्रियों ने इसलिए बार-बार काव्य के साथ 'सहृदय' शब्द का प्रयोग किया है। कुछ आचार्यों जैसे अभिनवगुप्त, मम्मट आदि ने 'स्व' के परित्याग की ओर ध्यान आकर्षित कराया है यह और बात है कि रस की व्याख्या करते हुए वे इसका निर्वाह नहीं कर पाए।

काव्य में निहित भाव एवं कवि अपने विचारों का जिस हृदयग्राही रीति से मर्मस्पर्शी निरूपण करता है वही सहृदय सामाजिक को उस भाव दशा तक ले जाता है। कुछ काव्य की अपनी शक्ति और कुछ सहृदयता पाठक के हृदय की, भावों की स्थिति एवं प्रवृत्ति ही सहृदय को उस आनंद सरोवर तक ले जाती है। जब सहृदय सामाजिक आनंदानुभूति की उस चरम स्थिति में पहुंच जाता है तो उसे उस निर्विकल्प अवस्था में यह ज्ञान ही नहीं रहता कि वह किस रस का अनुभव कर रहा है। शृंगार, करुण या वात्सल्य रस का...। उसकी अवस्था ध्यानस्थ योगी जैसी होती है जो आत्म-प्रकाश से प्रकाशमान हो, जिसमें केवल आत्म-स्वरूप सत्ता ही शेष हो। वह केवल हृदय ही हृदय, आत्म ही आत्म होता है शेष बाह्यावरण लुप्त हो जाते हैं।

रसमग्न, ध्यानस्थ, आनंदमग्न उस योगी के 'सत् और चित्' स्वरूप भी इस आनंद की छाया में लुप्त हो जाते हैं। धरती, आकाश, जड़-चेतन आदि प्रकृति की सभी चेष्टाएं तिरोहित हो जाती हैं। इसलिए आचार्य विश्वनाथ इस स्थिति के लिए 'सत्वोद्रेक' की बात कहते हैं। इस अवस्था को ही 'रस' का नाम दिया गया है। विभिन्न आचार्यों ने अपनी रुचि, प्रतिभा एवं दृष्टिकोण के आधार पर रस के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। अभिनवगुप्त इसे आनंदमयी चेतना कहते हैं तथा स्थायी भाव से विलक्षण स्वरूप वाला मानते हैं।

काव्यशास्त्रीय दृष्टि से रस परंपरा का प्रामाणिक ग्रंथ नाट्यशास्त्र को माना जाता है जिसे पांचवां वेद भी स्वीकार किया गया है। इसके प्रणेता आचार्य भरतमुनि रस की महत्ता को

प्रतिपादित करने वाले प्रथम आचार्य माने गए हैं यद्यपि इनसे पूर्व रस की चर्चा करने के संबंध में आचार्य नंदिकेश्वर एवं उनके ग्रंथ अभिनवदर्पण का उल्लेख किया जाता है किंतु इसके अप्रामाणिक एवं अप्राप्य होने के कारण भरत का 'नाट्यशास्त्र' ही रस संबंधी प्रथम ग्रंथ ठहरता है। रस के महत्व को रेखांकित करते हुए छठे अध्याय में रस और सातवें अध्याय में विभाव, अनुभाव आदि का विवेचन करते हुए भरतमुनि ने कहा है–

- नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।
- विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पत्तिः।
- एवं भावा रसाश्चैव भावयन्ति परस्परम्।
- एवमेतेह्यऽलंकारा गुणा दोषाश्च कीर्तिताः। प्रयोगमेषां च पुनर्वक्ष्यामि रससंश्रयम्।

यहां रस को संगीत, अभिनय एवं पाठ्य या वस्तु तत्व, इन तीनों अंगों का नियंता स्वीकार किया गया है। काव्य के सभी तत्व रसों पर आश्रित होते हैं। रस के बिना किसी की किसी में प्रवृत्ति नहीं होती। भरतमुनि कहते हैं कि आस्वादमय होने के कारण ही उसे रस की संज्ञा प्राप्त है, **'आस्वादनात्मानुभवः रसः काव्यार्थ इष्यते।'** रस आस्वादन स्वरूप अनुभव है और वही काव्यार्थ है।

जिस प्रकार नाना व्यंजनों एवं औषधि आदि के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है, उसी तरह नाना भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है– **"यथा नाना व्यञ्जनौषधि द्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिर्भवति यथा गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनैरोषधिभिश्च षाडवादयो रसा निवर्तन्ते तथा नानाभावोपगता अपि।"** भरतमुनि ने चार प्रधान रस ही स्वीकार किए हैं– शृंगार, रौद्र, वीर और वीभत्स रस। पुनः शृंगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत एवं वीभत्स से भयानक, इस तरह उन्होंने कुल आठ रस स्वीकार किए हैं। नौवां शांत रस बाद में स्वीकृत हुआ किंतु इसमें अभिनय करना संभव नहीं है। **'शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य।'** कहकर दशरूपककार ने भी इसे नाटक के लिए अस्वीकृत किया। रुद्रट ने काव्यालंकार में 'प्रेयाम्' नामक दसवें रस की चर्चा की गई है तथा साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने वात्सल्य रस को मान्यता प्रदान की है।

रौद्रः शान्तः प्रेयानितिमन्तव्याः रसाः सर्वे।
स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः।।

रसवादी आचार्य विश्वनाथ ने **'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** कहकर रस को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया है। रुद्रट रस को काव्यात्मा मानते हैं तथा राजशेखर ने भी रस को काव्यात्मा मानते हुए काव्यमीमांसा में लिखा है–"रस आत्मा रोमाणि छन्दांसि।" अग्निपुराण में भी ऐसा ही उल्लेख है–**'वाग्वैदग्ध्य रस एवात्र जीवितम्।'** काव्य में रस का महत्व और काव्यात्मा के रूप में रस का स्थान दृढ़ से सुदृढ़ होता गया।

आचार्य भरतमुनि के रस सूत्र–'विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' की चार टीकाकारों ने अपने-अपने तरीके से व्याख्या की। भट्टलोल्लट ने 'निष्पत्ति' शब्द को 'उत्पत्ति' के अर्थ में लेते हुए 'उत्पत्तिवाद' की प्रतिष्ठा की वहीं शंकुक ने रस को अनुमान का विषय बताते हुए 'निष्पत्ति' का अर्थ अनुमिति के रूप में लिया और 'अनुमितिवाद' की स्थापना की। भट्टनायक ने निष्पत्ति शब्द को भुक्ति के अर्थ में तथा संयोग शब्द को भोज्य-भोजक संबंध के रूप में मानते हुए भुक्तिवाद की स्थापना की। ये तीनों वाद स्वीकार्य नहीं हुए।

अभिनवगुप्त ने अभिव्यंजना की चर्चा की जो सर्वमान्य हुई। उन्होंने संयोग शब्द को व्यंग्यव्यंजक भाव तथा निष्पत्ति को अभिव्यक्ति या व्यंजना के अर्थ में लिखा। उन्होंने कहा कि प्रत्येक के हृदय में प्रेम, शोक, भय, घृणा आदि वासनाएं स्थायी भाव के रूप में रहती हैं। सभी सहृदयों के हृदय में स्थित सुप्त स्थायी भाव विभावादिकों को ग्रहण करके रसानुभूति से सिक्त हो जाते हैं और आनंद का अनुभव करते हैं। अभिनवगुप्त ने कहा–**"नाट्य-रसाःस्मृताः। सर्वानुग्राहकं हि, शास्त्रमितिन्यायात्तेन नाट्य एव रसा न लोके इत्यर्थः। काव्यं च नाट्यमेवा।"**

रसानुभूति की आवश्यक शर्त है सहृदय होना। जो सहृदय है वह अपनी संवेदनाओं से प्रकृति के जड़-चेतन सभी के सुख-दुख को अनुभव कर सकता है। सरस प्रकृति के भीतर परमात्मा की उपस्थिति को अनुभव कर सकता है, वह रसानुभूति में डूबकर ब्रह्मानंद को प्राप्त कर सकता है। रसानुभूति से पाया हुआ ब्रह्मानंद हृदय को शांति और मुख पर कांति बिखेर देता है। वामन कहते हैं–**दीप्तरसत्वं कांतिः**। मम्मट भी रस के महत्व को स्वीकार करते हैं।

भोज ने 'शृंगारप्रकाश' में केवल एक रस शृंगार को ही मान्यता दी है। वे कहते हैं-शृंगार का रूप अभिमान और अहंकार जैसा ही है। **रसोभिमानोऽहंकारः शृंगार इति गीयते।** भानुदत्त मिश्र ने रसतरंगिणी और रसमंजरी में रसों पर विस्तार से प्रकाश डाला है। माणिक्य चंद्र कहते हैं–**'काव्यं रसादिमद्वाक्यं श्रुतं सुखविशेषकृत्।'** अर्थात एक विशेष प्रकार का सुख पैदा करने वाला रस आदि से भरा वाक्य काव्य कहा जाता है। रस काव्य की आत्मा है, यह निर्विवाद होता चला गया। काव्य में औचित्य से रसानुभूति होती है जिससे चमत्कार उत्पन्न होता है। अनौचित्य से रसभंग होता है। सिद्धांत चाहे कोई भी हो–औचित्य, चमत्कार, अलंकार, वक्रोक्ति, रीति सभी के मूल में महत्व रस का ही है। बलदेव उपाध्याय ने नारायण पंडित के विचारों को उद्धृत किया है **"रसो सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते"** अर्थात रस चित्त विस्तार या आनंद का जनक होता है अतः रसानुभूति चमत्कार रूपिणी होती है। अभिनवगुप्त ध्वन्यालोक लोचन में रस को चमत्कार की आत्मा कहते हैं। लोचनकार सत्य कहते हैं, रस के बिना चमत्कार संभव नहीं है। विश्वेश्वर पांडेय ने रसचंद्रिका में रसों पर विस्तृत चर्चा की है। रुद्रभट्ट ध्वनिपूर्व रसवादी धारा के अंतिम आचार्य माने जाते हैं। उन्होंने शृंगार रस को रेखांकित करते हुए लिखा है–"यामिनी वेन्दुना युक्ता नारीव रमणं विना। लक्ष्मीरिव कृते त्यागान्नो वाणी भाति नीरसाः।"

अभिनवगुप्त के गुरु भट्टतौत भी रसवादी धारा के संवर्धन में सहयोगी बने। आचार्य भरतमुनि से पंडितराज जगन्नाथ तक रसवादी आचार्यों की सुदीर्घ परंपरा दृष्टिगोचर होती है। पंडितराज जगंन्नाथ लिखते हैं–'एवं पञ्चात्मके ध्वनौ परम रमणीयतया रसध्वनेस्तदात्मा रसस्तावदभिधीयते।' इस रस का एक रूप भक्ति रस के रूप में हमें रूप गोस्वामी की उज्ज्वल नीलमणि में मिलता है। इसमें भक्ति के पांच प्रकार–शांत, हास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य माने गए हैं। ये सभी भाव कृष्ण को समर्पित हैं। माधुर्य भाव को भक्ति रसराट् कहते हैं। रसवादी आचार्यों की भिन्न-भिन्न मान्यंताओं के साथ रसवाद पुष्ट और विकसित होता गया।

आचार्य विश्वनाथ के विवेचन में रस का संपूर्ण स्वरूप समाहित हो गया है। आचार्य विश्वनाथ का कथन इस प्रकार है–

सत्वोद्रेक अखण्ड–स्वप्रकाशानन्द चिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः।

लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः॥

उपर्युक्त श्लोकों से रस के स्वरूप निर्धारण में निम्न बिंदु स्पष्ट होते हैं–

1. सहृदय के हृदय में सत्व गुण के उद्रेक के पश्चात रस का स्वरूप स्पष्ट होता है।
2. रस अखंड होता है।
3. रस स्वप्रकाशानंद है।
4. रस चिन्मय होता है।
5. रस लोकोत्तर चमत्कारप्राण होता है।
6. रस ब्रह्मानंद के समान है।
7. रस अन्य सभी प्रकार के ज्ञान से अस्पष्ट होता है।
8. रस सामाजिक से अभिन्न रूप होता है।

समस्त बिंदुओं को इस प्रकार व्याख्यायित किया जा सकता है–

(1) सत्वोद्रेक–सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति त्रिगणात्मक होती है। ये तीन गुण हैं– (1) सत्व गुण, (2) रजोगुण और (3) तमोगुण। सत्व गुण अधिकतर रजोगुण और तमोगुण से आच्छादित रहता है। सत्व गुण ही व्यक्ति को शुद्ध-बुद्ध आत्मा (पुरुष) को पहचानने की क्षमता प्रदान करता है। आत्मा का निर्मल स्वरूप भी सत्व गुण के प्राधान्य में अभिव्यक्त होता है। फलतः आचार्य ने सर्वप्रथम रस के स्वरूप के लिए सामाजिक में सत्व गुण के आविर्भाव को प्रमुखता प्रदान की है। सत्व गुण के उदित होने पर व्यक्ति राग-द्वेष से मुक्त होने लगता है और रसास्वाद के लिए राग-द्वेष से मुक्ति प्राप्त करना पहली अनिवार्य शर्त है।

(2) रस अखंड है–विश्वनाथ रस की कोटियां या उसके उच्च, मध्यम या निम्न जैसे स्तर स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार रस आनंदमयी चेतना है। फलतः उसके खंड नहीं किए जा सकते। डॉ. नगेंद्र के अनुसार, इसकी व्याख्याएं भी की जा सकती हैं कि रस स्थिति में विभावादि की पृथक-पृथक अनुभूति नहीं होती, बल्कि उनकी समंजित अनुभूति होती है। वस्तुतः विभावादि तो रस स्थिति उत्पन्न करने के सहायक उपकरण मात्र हैं। अतः रस स्थिति में इनके अुनभव का तो प्रश्न ही नहीं उठता। अतः स्पष्ट है कि अखंड से तात्पर्य आत्मानुभूति की पूर्णता से है।

(3) रस स्वप्रकाशानंद है–विश्वनाथ का स्वप्रकाशानंद से तात्पर्य है–आत्मा का प्राकृतिक मलों से विनिर्मुक्त होना, क्योंकि आत्मा प्रकाशमयी चेतन सत्ता है, किंतु जिस प्रकार मेघाच्छादित सूर्य की आभा मलिन प्रतीत होती है, उसी प्रकार आत्मा के प्रकाश का भी मलाच्छादित होने के कारण सामाजिक अवलोकन या अनुभव नहीं कर पाता। रस-दशा में वे मल तिरोहित हो जाते हैं और उस समय केवल आत्मा अपने मूल रूप में प्रकाशित होने लगती है। आत्मा के प्रकाशमान स्वरूप का ही नाम आनंद है।

(4) रस चिन्मय होता है–विश्वनाथ का चिन्मय से तात्पर्य आत्म-स्वरूप से है। रस स्थिति आत्म-स्वरूप स्थिति है। जहां केवल शुद्ध-बुद्ध आत्मा ही व्यक्त रहती है।

शेष सभी मलों का तिरोभाव हो जाता है। ऐसी स्थिति में रस और आत्मा में कोई अंतर नहीं रह जाता। इसीलिए उपनिषदकारों ने 'रसौ वै सः' कहकर रस की चिन्मयता की घोषणा बहुत पहले ही कर दी है। उस समय जब रस चिन्मय स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, तब लौकिक ऐंद्रिय मूल या अनुभूतियों के लिए अवकाश नहीं रह जाता।

(5) **वेद्यांतर स्पर्शशून्य**—अन्य सभी प्रकार के ज्ञान का अभाव ही रस स्थिति का भाव है। कहने का तात्पर्य यह है कि रस की स्थिति में प्रमाता में स्व, पर, तटस्थ आदि की अनुभूति का तिरोभाव हो जाता है। अर्थात उस दशा में प्रमाता देशकाल की परिधि को लांघ जाता है और आत्मलीन हो जाता है। उस स्थिति में तन्मयता के अतिरिक्त अन्य समस्त ज्ञान कुछ समय के लिए समाप्त हो जाते हैं। समस्त जड़ चेतन समुदाय ब्रह्ममय दृष्टिगत होने लगता है।

(6) **ब्रह्मानंद सहोदर**—विश्वनाथ ने काव्यानंद या काव्य रस के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है कि काव्यास्वाद और ब्रह्मानंद में कोई तात्विक अंतर नहीं है। अंतर केवल अवधि का है। ब्रह्मानंद स्थायी होता है जिसका एक बार आस्वादन कर लिए जाने के पश्चात् वह आस्वाद कभी समाप्त नहीं होता, जबकि काव्यास्वाद अस्थायी होता है क्योंकि काव्यादि की सहायता से मलों का तिरोभाव ही होता है, उनका समूल नाश नहीं होता। फलतः काव्योपकरणों के अभाव में मलों का पुनः आविर्भाव हो जाता है और सहृदय पुनः इस लौकिक जगत में प्रवेश कर जाता है। काव्यास्वाद सरल एवं शीघ्राधिगम्य तो होता है, किंतु स्थायी नहीं हो पाता। इसलिए विश्वनाथ ने रस को 'ब्रह्मास्वाद' न कहकर 'ब्रह्मानंद सहोदर' कहा है।

(7) **लोकोत्तर चमत्कार-प्राण**—रस में पाया जाने वाला चमत्कार लौकिक न होकर अलौकिक होता है। इसलिए रस को पूर्णतया परिभाषित नहीं किया जा सकता और ब्रह्मानंद सहोदर होने के कारण अनेक आचार्य इसे अनिर्वचनीय भी कह देते हैं। वस्तुतः यहां पर इसीलिए विश्वनाथ ने 'अलौकिक' शब्द का प्रयोग न कर 'लोकोत्तर' शब्द का प्रयोग किया है और संभवतः यहां 'लोक' शब्द से आचार्य का मन्तव्य 'इंद्रिय' से रहा है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि रसोद्गत चमत्कार इंद्रिय अनुभव से परे की वस्तु है, क्योंकि लौकिक चमत्कार का अनुभव इंद्रियों द्वारा किया जाता है, किंतु रस चमत्कार के लिए इंद्रियों के प्रवेश का अवसर नहीं रहता। अतः यह एक ऐसा चमत्कार है जो इंद्रियानुभूत नहीं होता। फलतः यह चमत्कार लोकोत्तर है और यही लोकोत्तर चमत्कार रस का प्राणभूत तत्व है।

(8) **स्वाकारवदभिन्नत्व**—रस की स्थिति अपने स्वरूप से अभिन्न रूप में होती है। इसका तात्पर्य यह है कि आस्वाद और रस कोई दो भिन्न-भिन्न तत्व नहीं हैं, जिस प्रकार आत्मा या परमात्मा के 'सत्, चित् और आनंद' कोई भिन्न तत्व नहीं हैं। ब्रह्म सच्चिदानंद है और सच्चिदानंद का नाम ही ब्रह्म है। इसी प्रकार रस का नाम ही आस्वाद और आस्वाद ही रस है। अर्थात रस अनुभूति का विषय नहीं है बल्कि अनुभूति ही स्वयं रस है। इस प्रसंग में अनुभूति भी अनुभव करने की कोई वृति नहीं है अपितु अनुभूति ही आत्मा है। अनुभूति का स्वयं प्रकाशमान स्वरूप ही आनंद का

पर्याय है। 'आनंद' कोई अनुभव करने का विषय नहीं है, बल्कि आचार्य शुक्ल के शब्दों में 'हृदय की मुक्तावस्था ही आनंद है और यही रस है।'

परवर्ती आचार्यों में पंडितराज जगन्नाथ ने आनंद की तीन कोटियां मानी हैं—(1) विषयानंद (लौकिक सुख), (2) ब्रह्मानंद और (3) काव्यानंद।

पंडितराज के अनुसार—

(1) विषयानंद चेतना से आभासित अंत:करण की वृत्तियों के विषय के साथ सामंजस्य से व्युत्पन्न होता है तथा एंद्रिक होता है।

(2) ब्रह्मानंद में समस्त सांसारिक उपाधियों का नाश होकर केवल चैतन्य-स्वरूप का भाव ही आनंद स्वरूप होता है।

(3) काव्यानंद रति आदि भावों की उपाधि बने रहने पर भी चैतन्य स्वरूप का आभास है।

'आनंद' आत्मा का स्वरूप एवं एक मुक्त प्राकृतिक, नैसर्गिक स्थिति है। काव्यानंद एवं ब्रह्मानंद में अंतर है। काव्यानंद में चित्त के विकार छिप जाते हैं। लुप्त होते हैं लेकिन बाद में उनके प्रत्यक्ष होने की संभावना शेष रहती है जबकि ब्रह्मानंद में विकारों का नाश हो जाता है और उनके प्रत्यक्षीकरण की कोई संभावना शेष नहीं रहती। ब्रह्मानंद को इसलिए चरम स्थिति माना गया है। काव्य में सांसारिक दुख भी सुख बनकर उपस्थित होता है इसलिए करुण रस के काव्य के दुखद वर्णनों को भी हम बार-बार पढ़ते हैं। पढ़ते हैं, रोते हैं और फिर पढ़ते हुए सुख का ही अनुभव करते हैं। इसलिए रस दशा 'आनंद' की ही द्योतक मानी गई है। 'रस' का स्वरूप 'ब्रह्म' के पर्याय के रूप में लिया गया है। 'रसो वै स:' अर्थात रस ही वह ब्रह्म है।

2.4 सभी रसों का सामान्य परिचय

रसों की संख्या दस हैं—शृंगार, वीर, हास्य, रौद्र, भयानक, वीभत्स, करुण, अद्‌भुत, शांत और वात्सल्य। 'भक्ति रस' को ग्यारहवें रस के रूप में देखा जाता है। रस ही काव्य की आत्मा है। ऐसा मानने वाले आचार्य गण मानते हैं कि कई बार उक्ति अनौचित्य या काव्य में रस का पूर्ण परिपाक न होने के कारण उक्ति में रसत्व तो विद्यमान रहता है किंतु उसमें तीव्र या दीप्त रसत्व का अभाव होता है। इसी कारण भक्ति को 'रस' के समान नहीं माना जाता। इस प्रकार की उक्तियों को सात प्रकारों में बांट सकते हैं—(1) भाव, (2) रसाभास, (3) भावाभास, (4) भावोदय, (5) भावशांति, (6) भाव संधि और (7) भाव सबलता।

आचार्य मम्मट ने रसों के आठ भेद किए हैं। जिनका परिगणन निम्न प्रकार है—

शृंगार-हास्य-करुण-रौद्र-वीर भयानका:।
बीभत्साद्‌भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसायेस्मृता:।।

शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, और अदभुत ये सभी नाट्य में रस माने गए।

1. **शृंगार रस**-शृंगार रस का स्थायी भाव 'रति' होता है। शृंगार के आलम्बन विभाव नायक-नायिका होते हैं। उपवन, चन्द्रिका आदि उद्दीपन विभाव होते हैं। भू-विक्षेप,

कटाक्ष आदि इसके अनुभाव होते हैं तथा लज्जा, ह्रास आदि व्यभिचारी भाव होते हैं।

श्रृंगार दो प्रकार का होता है–

(क) संयोग श्रृंगार (ख) वियोग श्रृंगार।

(क) संयोग श्रृंगार–इसमें नायक और नायिका का मिलन हो जाता है। इसके दो प्रकार होते हैं।

(ख) वियोग श्रृंगार– इसमें नायक नायिका का मिलन नहीं हो पाता। यह अभिलाषा, विरह, ईर्ष्या, प्रवास, शाप के भेद से पांच प्रकार का होता है।

2. **हास्य रस**– हास्य का स्थायी भाव 'हास' है।

आचार्य विश्वनाथ ने हास को निम्न रूप में परिभाषित किया है–

वागदिर्वैकृतैश्चेतौ विकासो हास इष्यते।

विकृत आकार तथा चेष्टा वाला व्यक्ति हास्य रस का आलम्बन होता है। अनुपयुक्त वेश–भूषा, चेष्टाएं तथा अनर्गल प्रलाप उद्दीपन होते हैं। नेत्र–संकोच, मुस्कराना आदि अनुभाव होते हैं तथा निद्रा, आलस्य आदि व्यभिचारी भाव होते हैं।

3. **करुण रस**– करुण रस का स्थायी भाव 'शोक' है। आचार्य विश्वनाथ ने शोक को निम्न रूप से परिभाषित किया है–

इष्टनाशादिभिश्चेतो वैक्लव्यं शोकशब्दभाक्।

अर्थात प्रिय वस्तु के नष्ट हो जाने पर चित्त की जो व्याकुलता होती है वही शोक कहलाती है। जिसके लिए शोक किया जाता है, वही शोच्य आलम्बन होता है। आलम्बन की बातें तथा दाह आदि अवस्था उद्दीपन होते हैं। 'दैवनिन्दा' तथा 'क्रन्दन' आदि अनुभाव होते हैं। मोह–व्याधि–विषाद आदि व्यभिचारी भाव होते हैं।

4. **रौद्र रस**– रौद्र रस का स्थायी भाव 'क्रोध' होता है।

आचार्य विश्वनाथ ने इसे निम्न रूप में परिभाषित किया है–

विरोधियों के प्रति हृदय में तीक्ष्णता या प्रतिशोध की भावना ही क्रोध कहलाती है। इसका आलम्बन शत्रु होता है। शत्रु की चेष्टाएं एवं अपकार आदि उद्दीपन होते हैं। भुजाएं ठोकना, शस्त्र–उठाना, आक्षेप लगाना आदि अनुभव होते हैं। मोह, अमर्ष असूया आदि व्यभिचारी भाव होते हैं।

5. **वीर रस**–वीर रस का स्थायी भाव 'उत्साह' होता है। साहित्यदर्पणकार ने इसकी परिभाषा निम्न रूप में दी है–

कार्यारम्भेषू संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते।

अर्थात कार्य करने में आनन्दपूर्ण स्थिर उद्योग ही उत्साह कहलाता है। इसमें प्रतिद्वन्द्वी आलम्बन होता है। उसकी पराजय तथा युद्ध का कोलाहल उद्दीपन होते हैं। शस्त्र–प्रहार, शत्रु से प्रतिस्पर्धा अनुभाव तथा गर्व, धैर्य एवं मति आदि व्यभिचारी भाव होते हैं।

6. **भयानक रस**–भयानक रस का स्थायी भाव 'भय' है। आचार्य विश्वनाथ ने भयानक रस की परिभाषा निम्न रूप में प्रस्तुत की है–

रौद्र शक्त्या तु जनितं चित्तवैक्लव्यदं भयम्।

किसी भीषण वस्तु के कारण चित्त की विकलता भय कहलाती है। भयोत्पादक व्यक्ति या वस्तु आलम्बन होती है। उसकी चेष्टाएं उद्दीपन होती हैं। मुख का पीला पड़ना, बोल न पाना, स्वेद आदि अनुभाव हैं तथा शंका, सम्भ्रम, मरण आदि व्यभिचारी भाव होते हैं।

7. **वीभत्स रस**–वीभत्स रस का स्थायी भाव 'जुगुप्सा' है। आचार्य विश्वनाथ वीभत्स को इस प्रकार परिभाषित करते हैं–

   दोषेक्षणादिभिर्गर्हो जुगुप्सा विषयोद्भवा।

   अभिप्राय है कि किसी घृणास्पद वस्तु के दोष–दर्शन से उत्पन्न घृणाभाव ही जुगुप्सा है। दुर्गन्ध, सड़ांध, मांस, रुधिर आदि इसके आलम्बन हैं। कीड़े पड़ना आदि उद्दीपन हैं। नाक सिकोड़ना, थूकना आदि अनुभाव हैं तथा उद्वेग आदि व्यभिचारी भाव हैं, जिनसे सामाजिक में वीभत्स रस की अभिव्यक्ति होती है।

8. **अद्भुत रस**– अद्भुत रस का स्थायी भाव 'विस्मय' है। आचार्य विश्वनाथ अद्भुत रस की निम्न परिभाषा प्रस्तुत करते हैं–

   विविधेषु पदार्थेषु लोकसीमातिवर्तिषु।

   विस्फारश्चेतसो यस्तु स विस्मय उदाहृतः।।

   विलक्षण वस्तुओं के दर्शन, श्रवण आदि से जो चित्त का विकास होता है, वही विस्मय कहा जाता है। विस्मय का आलम्बन विलक्षण वस्तु होती है। ऐसी वस्तु का देखना, सुनना, कहना तथा गुण–वर्णन आदि उद्दीपन हैं। स्वेद, रोमांच, नेत्र विकास आदि अनुभाव हैं। वितर्क, आवेग, हर्ष आदि व्यभिचारी भाव होते हैं।

9. **शान्त रस**–शान्त की रस–विषयक मान्यता में आचार्यों में पर्याप्त मतभेद है। अभिनवगुप्त के मतानुसार मोक्ष रूप पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए शान्त रस की स्वीकृति आवश्यक है।

आचार्य मम्मट ने सभी के मतों का सार लेकर शान्त रस को अपनी मान्यता प्रदान की है–**निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः।** शान्त रस का स्थायी भाव 'निर्वेद' है। इसका दूसरा नाम 'शम' भी है। संसार की अनित्यता, परमात्मस्वरूप की अनुभूति इसका आलम्बन है। आश्रम, तीर्थ तपोवनादि उद्दीपन तथा रोमांचादि अनुभाव हैं। स्मृति, धृति, भति, जीव, दया तथा हर्षादि इसके व्यभिचारी भाव होते हैं।

2.5 रस निष्पत्ति

भरतमुनि के अनुसार जब स्थायी भाव का विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के साथ संयोग होता है तब रस निष्पत्ति होती है। 'विभानुभाव व्यभिचारी संयोगात् रस निष्पत्तिः।' इस सूत्र के आधार पर रस के चार अवयव निश्चित हुए–स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव। स्थायी भाव की सर्वस्वीकृत परिभाषा यह है कि–"स्थायी भाव सहृदय सामाजिक के हृदय में वासना रूप में (जन्मजात) स्थित वे अनुभूतियां हैं जो स्थायी रूप से

विद्यमान रहती हैं। ये सभी के हृदय में पाई जाती हैं। स्थायी भाव का आधार 'अहंकार' है। इसकी दो मुख्य वृत्तियां–राग एवं द्वेष हैं जो क्रमशः सुखात्मक एवं दुखात्मक हैं। स्थायी भाव मनोविकारों एवं भौतिक या शारीरिक प्रतिक्रियाओं के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। इनकी संख्या दस हैं–(1) शोक, (2) हास, (3) रीति, (4) शम, (5) उत्साह, (6) विस्मय, (7) भय, (8) जुगुप्सा, (9) क्रोध, और (10) वत्सल।

रस निष्पत्ति के प्रश्न को हल करने के लिए भरत के रस–सूत्र की टीकाकारों ने अपनी–अपनी तरह से व्याख्या की है। 'संयोग' और 'निष्पत्ति' शब्दों का क्या तात्पर्य है? रस की निष्पत्ति किस प्रकार की और किसमें होती है? सामाजिक को, कवि को, विभाव को या अनुभाव को? चार प्रमुख टीकाकार हुए हैं–भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त। भरत के रस सूत्र में आए 'निष्पत्ति' शब्द को 'उत्पत्ति' के अर्थ में लेते हुए उत्पत्तिवादी भट्टलोल्लट ने उत्पत्तिवाद की प्रतिष्ठा की। इनका मानना है कि नाटक में रस मुख्यतः नायक–नायिका में ही उत्पन्न होता है परंतु उनका अभिनय द्वारा अनुकरण करने वाले नटों में उस रस की प्रतीति होती है। इस रस की उत्पत्ति विभाव, अनुभाव और संचारी भाव तीनों के संयोग से होती है। विभाव के द्वारा रस उत्पन्न होता है। अनुभाव के द्वारा रस की प्रतीति होती है और संचारी भाव द्वारा रस की पुष्टि होती है। इस मत से यह पता नहीं चलता कि सामाजिक प्राणी जो दर्शक है, श्रोता है उसे रस की अनुभूति क्यों होती है?

भरत के सूत्र के दूसरे व्याख्याकार शंकुक ने अनुमितिवाद के द्वारा रस को अनुमान का विषय बताया। सूत्र के 'संयोगात' शब्द का अर्थ 'अनुमानात्' और 'निष्पत्ति' का अर्थ वे 'अनुमिति' के रूप में लेते हैं। शंकुक के मतानुसार, अभिनेताओं का अभिनय इतना स्वाभाविक और प्रभावी होता है कि वे जिन पात्रों का अभिनय कर रहे होते हैं, दर्शक उन पात्रों में उत्पन्न रस का आरोप अनुमान के आधार पर ही अभिनेताओं पर कर लेते हैं और स्वयं भी अनुमान के आधार पर उस रस को ग्रहण कर आनंदित और अभिभूत हो जाते हैं। किंतु चूंकि अनुमान के द्वारा वह आनंद, वह रसानुभूति कभी प्राप्त नहीं हो सकती है जो अपेक्षित है अतः इस मत को भी आधार प्राप्त नहीं हो सका।

भट्टनायक ने भुक्तिवाद की बात की। उन्होंने काव्य में व्यापार को मुख्य मानते हुए उसके तीन रूपों–अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व की चर्चा की। वे भरत–सूत्र में आए 'संयोग' शब्द को 'भोज्य–भोजक संबंध' और 'निष्पत्ति' शब्द को 'भुक्ति' के अर्थ में स्वीकार करते हैं। अभिधा के द्वारा शब्द के अर्थ की प्रतीति होने पर सामाजिक के भीतर सात्विक भाव का उदय होता है। भावकत्व के द्वारा साधारणीकरण होने से सामाजिक का सात्विक हृदय उस (ऐतिहासिक या धार्मिक) पात्र को जिसका अभिनय अभिनेता करता है, साधारण मनुष्य के रूप में लेते हैं और भोजकत्व व्यापार द्वारा उन्हें उस अभिनय को देखते हुए रस की अनुभूति होती है। इसमें भट्टनायक ने सामाजिक को स्थान दिया है किंतु त्रिविध व्यापार की असंगत कल्पना के कारण इस मत को भी मान्यता नहीं मिली।

अभिनवगुप्त व्यंजनावादी हैं। उन्होंने भरत के सूत्र के 'संयोग' शब्द को 'व्यंग्यव्यंजक भाव' तथा 'निष्पत्ति' को 'अभिव्यक्ति या व्यंजना' के अर्थ में लिया। उन्होंने कहा कि प्रत्येक मनुष्य के हृदय में प्रेम, शोक, भय, घृणा आदि वासनाएं स्थायी भाव के रूप में रहती हैं। विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के द्वारा इन स्थायी भावों की अभिव्यंजना होती है। सभी

सहृदयों के हृदय में स्थित सुप्त स्थायी भाव विभावादिकों को ग्रहण करके रसानुभूति से सिक्त हो जाते हैं और आनंद का अनुभव करते हैं। यह मत सभी विद्वानों को मान्य है। अभिनवगुप्त ने कहा कि–**'नाट्यरसाः स्मृताः।' सर्वानुग्राहकं हि शास्त्रमितिन्यायात्तेन नाट्य एव रसा न लोके इत्यर्थः। काव्यं च नाट्यमेव।'**

अभिनवगुप्त का रस संसार में एकछत्र साम्राज्य स्थापित हो गया। आज भी किंचित संशोधनों के साथ अभिनवगुप्त की रस संबंधी मान्यताएं स्वीकृत हैं। अभिनवगुप्त की कुछ मौलिक उद्भावनाएं इस प्रकार हैं–

1. रस निष्पत्ति सहृदय सामाजिक की होती है। (भट्टनायक को स्वीकार कर लिया)
2. रस आनंदमय है (भट्टनायक कह चुके थे)।
3. रस आस्वाद है (भट्टनायक रस को भोज्य (आस्वाद्य) मानते हैं)।
4. निष्पत्ति का अर्थ है- अभिव्यक्ति।
5. संयोग का अर्थ है–व्यंग्य व्यंजक भाव संबंध।
6. साधारणीकरण व्यष्टि के धरातल पर न होकर समष्टि के धरातल पर होता है।
7. साधारणीकरण भावकत्व व्यापार का परिणाम नहीं अपितु व्यंजना का ध्वनन व्यापार है।

वामन कहते हैं–**'दीप्तरसत्वं कान्तिः।'** भोज ने शृंगारप्रकाश में 'रस एक ही है' सिद्धांत की स्थापना की और इस एक रस को शृंगार कहा जिसका रूप अभिमान और अहंकार जैसा ही है। **'रसोभिमानोऽहंकारः शृंगार इति गीयते।'** भानुदत्त मिश्र ने 'रसतरंगिणी और रसमंजरी' में रसों की विस्तृत व्यख्या की। श्री विश्वेश्वर पांडेय की 'रसचंद्रिका' में रसों पर चर्चा है। रुद्रभट्ट ध्वनिपूर्ण रसवादी धारा के अंतिम आचार्य माने जाते हैं। उन्होंने शृंगार रस पर विस्तार से लिखा–

'यामिनी वेन्दुना युक्ता नारीव रमणं विना। लक्ष्मीरिव कृते त्यागान्नो वाणी भति नीरसा।' अभिनवगुप्त के गुरु भट्टतौत ने भी रसवादी धारा के विकास में सहयोग दिया। भरतमुनि से पंडितराज जगन्नाथ तक रसवादी आचार्यों की सुदीर्घ परंपरा के दर्शन होते हैं। पंडितराज जगन्नाथ लिखते हैं–**"एवं पञ्चात्मके ध्वनौ परम रमणीयता रसध्वनेस्तदात्मा रसस्तावदभिधीयते।'** इसके अतिरिक्त आचार्य मम्मट ने भी रस के महत्त्व को स्वीकार किया है। इस रस सिद्धांत का एक रूप 'भक्ति रस' के रूप में हमें रूप गोस्वामी की 'उज्ज्वल नीलमणि' में मिलता है, जिसमें भक्ति रस के पांच प्रकार–शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य माने गए हैं। ये सभी भाव कृष्ण के प्रति ही होते हैं। इस माधुर्य भाव को 'भक्ति-रसराट्' कहते हैं। इस प्रकार रसवादी आचार्यों की भिन्न-भिन्न मान्यताओं के साथ 'रसवाद' पुष्ट और विकसित होता गया। इनके साथ परवर्ती आचार्यों के तर्क-वितर्कों तथा अलंकार आदि को काव्यात्मा मानने के तर्क-वितर्कों के बीच रस सिद्धांत ने रस-संप्रदाय का रूप धारण किया। हिंदी काव्यशास्त्रियों ने भी रस के महत्व को स्वीकार किया है।

रस निष्पत्ति और साधारणीकरण

इस सिद्धांत की स्थापना भट्टनायक ने की। काव्य में रस को मूल तत्व और आत्मा स्वीकार कर लिए जाने के पश्चात प्रश्न उठा था कि रस निष्पत्ति किसमें होती है? इस प्रश्न को हल

करते-करते एक प्रश्न और उठा कि रस निष्पत्ति कैसे होती है? काव्य और सहृदय सामाजिक का परस्पर क्या संबंध है? इस प्रश्न का उत्तर सर्वप्रथम भट्टनायक ने 'साधारणीकरण' की प्रक्रिया के रूप में दिया तथा अभिनवगुप्त ने इसे दार्शनिक आधार प्रदान कर इस साधारणीकरण की स्थिति को पुष्ट एवं स्थिर बना दिया। इसे 'साधारणीकरण' के सिद्धांत की संज्ञा प्राप्त हुई। 'साधारणीकरण' का अर्थ है असाधारण अर्थात विशेष का साधारण (सामान्य) रूप में परिवर्तित हो जाना।

भट्टनायक के अनुसार काव्य-रस का भोग सहृदय सामाजिक करता है। सामाजिकों के हृदयों में वासना रूप से स्थित स्थायी भाव काव्य में वर्णित विभावादि के कारण उद्‌बुद्ध होकर रस रूप में परिणत हो जाते हैं। इसके लिए भट्टनायक ने तीन स्थितियों का विवेचन किया—(1) अभिधा, (2) भावकत्व और (3) भोजकत्व। काव्य में सदैव असाधारण या विशेष का ही प्रतिपादन किया जाता है। काव्य का वह विशेष जब साधारण या सामान्य रूप में प्रतिभाषित होने लगता है, तब वह स्थिति साधारणीकरण की स्थिति कहलाती है। जब काव्य में वर्णित 'राम', राम न रहकर एक सामान्य पुरुष और 'सीता', सीता न रहकर एक सामान्य युवती के रूप में भासित होने लगते हैं, तब साधारणीकरण की स्थिति होती है। यही काव्यात्मक साधारणीकरण कहलाता है। अब प्रश्न यह उठता है कि साधारणीकरण किसका होता है। इस पर विद्वानों में मतभेद है। इस प्रसंग में साधारणीकरण से संबद्ध विचारों को पांच वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

1. विभावादिकों और स्थायी भावों का साधारणीकरण होता है।
2. विभावादिकों के साथ-साथ सहृदय सामाजिक की चित्तवृत्ति का भी साधारणीकरण होता है।
3. केवल विभावादिकों का साधारणीकरण होता है और सहृदय सामाजिक का आश्रय से तादात्म्य हो जाता है।
4. कवि की भावनाओं का साधारणीकरण होता है और सहृदय सामाजिक का कवि के साथ तादात्म्य हो जाता है।
5. साधारणीकरण व्यर्थ एवं अनामंत्रित सिद्धांत है।

• **विभावादिकों और स्थायी भावों का साधारणीकरण—** *इस सिद्धांत के संस्थापक एवं* पोषक आचार्य भट्टनायक हैं। उनके अनुसार—

1. विभावादि व्यापार ही साधारणीकरण है।
2. विभावादि अर्थात आलंबन, उद्दीपन, अनुभाव, संचारी एवं स्थायी भावों का साधारणीकरण हो जाता है।
3. स्थायी भाव के साधारणीकरण का तात्पर्य है कि विशिष्ट संबंधों से मुक्ति।
4. भावकत्व से भाव्यमान स्थायी भाव ही रस है। भाव्यमान से तात्पर्य साधारणीकृत रूप से ही है।

भट्टनायक ने भावकत्व व्यापार की दो विशेषताएं प्रस्तुत की हैं—

1. निविडनिज मोह संकटतानिवारणकारिणा, और
2. विभावादि साधारणीकरणात्मना।

जब तक प्रमाता अपने आपको काव्य की विषय-सामग्री से पृथक या असंपृक्त रखेगा तब तक वह उस आनंदमयी चेतना का अवलोकन नहीं कर पाएगा जिसे प्रकारांतर में रस कहा जाता है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए संभवतः भट्टनायक ने यह कहा होगा कि भावकत्व व्यापार का पहला कार्य है प्रमाता के निजत्व मोह के संकट का निवारण करना अर्थात उसे अपने-पराए की संज्ञा से मुक्त करना। दूसरे, प्रमाता द्वारा ही विभावादिकों के विशिष्ट संबंधों को मुक्तावस्था में देखना अर्थात उन्हें राम-सीतादि के रूप में न देखकर केवल भाव रूप में ग्रहण करना। जिस प्रकार एक रुग्ण व्यक्ति दवा को केवल रोग-निवारक के रूप में ही ग्रहण करता है, न कि उस औषधि के नाम-रूप में या उसमें मिश्रित विभिन्न रसायनों के रूप में।

• **विभावादिकों के साथ सहृदय की चित्तवृत्ति का साधारणीकरण**– भट्टनायक के पश्चात रस सिद्धांत के सर्वाधिक पोषक अभिनवगुप्त थे। इन्होंने भट्टनायक के रस संबंधी विचारों को मूल रूप में तो स्वीकृति दी किंतु उनकी व्याख्या अपने अनुसार की है बल्कि यों कहना चाहिए कि उन्हें दार्शनिकता से आवृत्त कर दिया। दूसरी ओर उनके विचारों में संशोधन भी किया तथा उन्हें तर्कसम्मत स्पष्ट रूप भी प्रदान किया। अभिनवगुप्त के अनुसार–

1. विभावादिकों का ही साधारणीकरण नहीं होता, बल्कि स्थायी भाव का भी साधारणीकरण होता है। विभावादिकों के साधारणीकरण के कारण ही स्थायी भाव का साधारणीकरण होता है।
2. स्थायी भाव के साधारणीकरण से तात्पर्य है देश-काल के बंधनों से मुक्ति। साधारणीकरण की स्थिति में विशेषत्व का अभाव हो जाता है क्योंकि विशेषत्व ही सुख-दुख का कारण होता है। उस (विशेषत्व) के अभाव में एंद्रिक सुख-दुख की भावना नष्ट हो जाती है।
3. भाव का साधारणीकरण व्यक्तिनिष्ठ न होकर समष्टिनिष्ठ होता है क्योंकि सभी सामाजिकों में संस्कार-रूप से समान भाव की स्थिति वासना-रूप में विद्यमान रहती है। अतः यह साधारणत्व परिमित नहीं होता।
4. साधारणीकरण का अर्थ है सुख-दुखात्मक अनुभूतियों एवं देशकाल के संबंधों से मुक्ति।

अभिनवगुप्त की या भट्टनायक की मूल धारणा तो यही है कि 'भाव' पर सुख-दुखात्मकता का जो आवरण चढ़ा हुआ है, वह साधारणीकरण से नष्ट हो जाता है। अभिनवगुप्त और भट्टनायक दोनों ही सुख-दुख को भाव का अंग नहीं मानते, बल्कि देश-काल के विभाग या विशेषत्व को सुख-दुख का कारण मानते हैं। इसीलिए वे इस बात पर बल देते हैं कि साधारणीकरण होने से देश-काल का बंधन निरस्त हो जाता है जो एंद्रिक सुख-दुख या विघ्न-बहुलता का कारण है।

• **विभावादिकों का साधारणीकरण और प्रमाता का आश्रय के साथ तादात्म्य**– इस सिद्धांत के अनुयायी विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ को माना जाता है। आधुनिक हिंदी आलोचकों में आचार्य शुक्ल का नाम आता है। संस्कृत आचार्यों ने (विश्वनाथ एवं जगन्नाथ) तादात्म्य की बात को उतना प्रत्यक्ष नहीं कहा, जितना आचार्य शुक्ल ने कहा है। आचार्य विश्वनाथ यद्यपि अभिनवगुप्त का ही अनुसरण करते हैं किंतु उनके कथन से ऐसा प्रतीत होता

है कि वे आश्रय का साधारणीकरण नहीं मानते, यथा–**व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणी कृतिः। तत्प्रभावेण यस्यासन्पाथो विप्लवनादयः।। प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते।** (साहित्य दर्पण 3/9-10)

उत्साहादिसमुद्बोधः साधारण्याभिमानतः।
नृणामपि समुद्रादिलंघनादौ न दुष्यति।। (3.11)

उपर्युक्त पंक्तियों की व्याख्या विश्वनाथ के अनुसार ऐसे होगी कि मंच पर अभिनीत हनुमानजी के समुद्रलंघन दृश्य को देख कर प्रमाता अपने आपको हनुमानजी से अभिन्न मानने लगता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्रमाता का आश्रय के साथ तादात्म्य स्थापित हो जाता है। संभवतः विश्वनाथ तादात्म्य भाव को भी साधारणीकरण का ही परिणाम मानते हैं। इसी कारण मानव भी, जिसके लिए समुद्रादि का संतरण लौकिक परिस्थितियों में संभव नहीं है, समुद्रसंतरण का अनुभव करता है अर्थात वह भी छलांग लगाकर सागर को पार कर सकता है, इस प्रकार के उत्साह का अनुभव करने लगता है। उस स्थिति में वह अपने आपको आश्रय यानी हनुमान मानने लग जाता है। इन्हीं के पश्चात हुए पंडितराज ने भी प्रकारांतर से प्रमाता का आश्रय के साथ तादात्म्य माना है।

- **कवि की भावनाओं का साधारणीकरण और सहृदय का उसके साथ तादात्म्य–** इस सिद्धांत के संस्थापक हैं आचार्य डॉ. नगेंद्र। आपके अनुसार कवि-भावना का साधारणीकरण होता है।

- **साधारणीकरण व्यर्थ एवं अनामंत्रित सिद्धांत–** आधुनिक भारतीय आलोचक मनोविज्ञान का आश्रय लेकर रस-सिद्धांत की व्याख्या करने में लगे हैं। फलतः उन्हें साधारणीकरण जैसा सिद्धांत व्यर्थ प्रतीत होता है।

'साधारणीकरण' का सामान्य या विशेष अर्थ यही होगा कि असाधारण का साधारण होकर मन के अनुकूल हो जाना। कवि अपने कौशल से जो रचना करता है सहृदय की मनःस्थिति कवि की मनःस्थिति के अनुकूल होकर समभाव के स्तर पर पहुंच जाती है और कवि तथा सहृदय के भावों में तादात्म्य स्थापित हो जाता है। सहृदय उसी शिद्दत से काव्य के भावों में डूबता-उतराता है जिस भाव सरिता में पैठ तक कवि ने रचना की। यही भाव साम्य 'साधारणीकरण' है।

2.6 रस के अवयव एवं रस दोष

रस के मूलभूत अवयव एवं रस दोषों को पृथक-पृथक इस प्रकार समझा जा सकता है–

2.6.1 रस के अवयव

रस के मूलतः तीन अवयव हैं- विभाव, अनुभाव एवं संचारी भाव।

- **विभाव**–इसके अंतर्गत समस्त सृष्टि या ब्रह्मांड आ जाता है। ये स्थायी भावों को जाग्रत करने का कार्य करते हैं। ये आलम्बन एवं उद्दीपन दो भागों में बांटे जाते हैं।
  1. **आलम्बन**- भावों का उद्‌गम जिस मुख्य भाव या वस्तु के कारण हो उसे काव्य का आलम्बन कहते हैं। 'विषय' और 'आश्रय' आलम्बन के अंतर्गत आते हैं।

जिस पात्र के प्रति किसी पात्र के भाव जाग्रत होते हैं वह विषय है। जिस पात्र में भाव जाग्रत होते हैं, वह आश्रय कहलाता है। उदाहरणस्वरूप वीर रस के स्थायी भाव उत्साह के लिए सामने खड़ा हुआ शत्रु आलम्बन विभाव है।

2. **उद्दीपन**– स्थायी भाव को जाग्रत रखने में सहायक कारक उद्दीपन कहलाता है। इसके दो रूप होते हैं–विषयगत और वर्हिगत। विषयगत के अंतर्गत आलम्बन की उक्तियां और चेष्टाएं आती हैं और वर्हिगत के अंतर्गत वातावरण से संबंधित वस्तुएं एवं दृश्य। शत्रु के साथ सेना, युद्ध के बाजे, शत्रु की दर्पोक्तियां, शस्त्र-संचालन आदि उद्दीपन विभाव के उदाहरण हैं।

- **अनुभाव**–'अनु' यानी पीछे चलने वाले। ये स्थायी भाव के बाद प्रकट होने वाले मनोविकार और आश्रय की चेष्टाएं हैं। अतः ये स्थायी भाव और विभाव के आश्रयगत होते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं–सात्विक या अयत्नज और कायिक या यत्नज।

  स्थायी भाव के जाग्रत होने पर सहज रूप से प्रत्यक्ष होने वाले अंगविकार सात्विक अनुभाव के उदाहरण हैं। जैसे–रोमांच, मुस्कान, अश्रु, कम्प आदि। इनके लिए आश्रय को कोई बाह्य चेष्टा नहीं करनी पड़ती, इसीलिए इन्हें अयत्नज भी कहा जाता है। आश्रय की शरीर संबंधी चेष्टाएं कायिक अनुभाव के उदाहरण हैं। ये चेष्टाएं शरीर के अंगों द्वारा प्रयत्नपूर्वक की जाती हैं, इसलिए इन्हें यत्नज भी कहा जाता है। जैसे आरोपित या कृत्रिम वेश रचना, रतिभाव के जाग्रत होने पर भ्रू-विक्षेप, कटाक्ष आदि यत्नपूर्वक किए गए व्यापार। अनुभाव भावों के विगलन की प्रक्रिया की सूचना देते हैं।

- **संचारी भाव**–भरतमुनि इन्हें व्यभिचारी भाव कहते हैं। ये ऐसे मनोवेग या शारीरिक प्रतिक्रियाएं हैं जो स्थायी भावों की पुष्टि के लिए संचरणशील होते हैं। एक ही संचारी भाव अनेक रसों की पुष्टि के लिए प्रकट हो जाता है इसलिए संचरणशील होने के कारण संचारी और एक ही भाव से इनका निश्चित संबंध न होने के कारण इन्हें व्यभिचारी नाम दिया गया।

  (1) ये स्थायी भाव के उपकारक धर्म हैं। जो स्थायी भावों को दीप्त कर उन्हें रसदशा तक पहुंचाने में सहायक होते हैं।

  (2) क्षणिकता इनका लक्षण है। अतः इन्हें मन की अस्थिर वृत्तियां कहा गया है।

  (3) स्थायी भावों के साथ इनका संबंध सागर एवं तरंगों के समान होता है जो सागर में उठती गिरती हैं।

  संचारी भावों की संख्या तैंतीस मानी गई है–

  (1) निर्वेद, (2) ग्लानि, (3) शंका, (4) असूया, (5) श्रम, (6) मद, (7) धृति, (8) आलस्य, (9) विषाद, (10) मति, (11) चिंत्ता, (12) मोह, (13) स्वप्न, (14) विबोध, (15) स्मृति, (16) अमर्ष, (17) गर्व, (18) औत्सुक्य, (19) अवहित्थ, (20) दैन्य, (21) हर्ष, (22) क्रीड़ा, (23) उग्रता, (24) निद्रा, (25) व्याधि, (26) मरण, (27) अपस्मार, (28) आवेग, (29) त्रास, (30) उन्माद, (31) जड़ता, (32) चलता और (33) वितर्क।

सहृदयता

काव्य चिंतन के संदर्भ में 'सर्जक' यानी कवि को तो सहृदय माना ही जाता है किंतु विशेष बल 'ग्राहक' अर्थात 'पाठक' को सहृदय मानने पर है। यहां सहृदय की अवधारणा पाठक के संबंध में ही है। इस 'सहृदय' का प्रथम प्रयोग संभवतः अथर्ववेद में मिलता है। 'अथर्ववेद' में इस शब्द की प्राप्ति महत्वपूर्ण है। भरतमुनि ने 'रस' को 'अथर्ववेद' से ही लिया। आयुर्वेद उसका उपवेद है और उसमें भी अपने तरीके से 'रस' भाव का विवेचन है। भवभूति आयुर्वेद का आधार लेकर ही राम के करुण रस को **'पुटपाकप्रतीकाश'** कहते हैं तथा क्षेमेंद्र रसायनतंत्र को संदर्भित करते हुए **'औचित्य रस-सिद्धस्य'** कहते हैं। इसलिए अथर्ववेद में प्रयुक्त 'सहृदय' को महत्वपूर्ण माना जाता है। उसमें 'सहृदयं सामनस्यमद्विषं कृणोमिवः' पंक्ति मिलती है जिसमें 'सहृदय' का अर्थ 'समान हृदय' है। 'समान' तथा 'हृदय' दो पदों से निर्मित यह सामासिक शब्द है। समान के लिए 'स' का उपयोग किया गया है। अतः 'सहृदय' का तात्पर्य है 'समान हृदय वाला'। काव्य में रचनाकार एवं पाठक या श्रोता अनुभव साम्य की दृष्टि से समान हृदय वाले अर्थात 'सहृदय' कहे जाते हैं। भट्टतौत कहते हैं–"नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः।' नाट्यशास्त्र में 'सहृदय' के स्थान पर 'सुमनस प्रेक्षक' का प्रयोग मिलता है। विभिन्न आचार्यों ने 'सहृदय' के समानार्थक शब्दों का प्रयोग किया है लेकिन इसका सर्वाधिक और स्पष्ट प्रयोग आनंदवर्द्धन के 'ध्वन्यालोक' में मिलता है। आनंदवर्द्धन ने 'सहृदयता' को 'रसज्ञता' का पर्याय माना है। अभिनवगुप्त ने तंत्रवाद के आलोक में 'सहृदय' की मार्मिक व्याख्या की है। इसके लिए उन्होंने 'नाट्यशास्त्र' एवं 'ध्वन्यालोक' को आधार बनाया है। यह व्याख्या 'अभिनव भारती', 'लोचन', 'तंत्रालोक', परात्रिंशिका' तथा 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विवृत्तिविमर्शिनी' में मिलती है।

अभिनवगुप्त ने 'सहृदय' पर चिति, चेत्य तथा चित्त तीनों कोणों से प्रकाश डालते हुए उसकी तीन स्वरूपगत विशेषताएं बताई हैं–

(1) **स्वहृदय संवाद भाजकता**–अर्थात ऐसा पाठक या श्रोता जिसका हृदय स्वयं से संवाद करने में कुशल हो, सचेत हो। वह कवि के संवाद को भी आत्मसात कर लेगा। इसका संबंध चिति से है।

(2) **वर्णनीय तन्मयीभवन योग्यता**–इसका संबंध चेत्य से है, इसमें वर्णन की जाने वाली कथावस्तु पर बल दिया जाता है, उसे सुनना और आत्मसात करना।

(3) **'तादात्म्यसमापत्तियोग्यता'**–इसका संबंध चित्त से है। जब कवि एवं पाठक, श्रोता या सहृदय के चित्त के बीच तादात्म्य स्थापित हो जाता है, वे एक हो जाते हैं। उनकी अनुभूति एकरस हो जाती है।

निष्कर्ष यह है कि 'सहृदयता' हृदय की 'योग्यता', 'उत्कर्ष', 'संवेदनशीलता', 'आत्मसात् करने की क्षमता' का ही नाम है। जो जितना संवेदनशील होगा, योग्य हृदय का, उत्कर्षशील हृदय का स्वामी होगा, वह लोकोत्तर आनंदमय स्थिति को प्राप्त करने का अधिकारी होगा। हृदय की यह योग्यता साहित्य के अध्ययन, चिंतन-मनन की निरंतरता और अभ्यास से आती है। सभी का हृदय इसका अधिकारी नहीं होता। 'सहृदय' होने की योग्यता के लिए लंबे धैर्य और निरंतरता के साथ काव्यानुशीलनात्मक अभ्यास की आवश्यकता है। तभी तुलसीदास के साथ दशरथ मरण के प्रसंग पर रो सकेंगे।

अभिनवगुप्त तो कहते हैं कि अभ्यास के साथ पूर्व जन्म के पुण्यों का होना भी आवश्यक है तभी चित्त काव्यानुशीलन में रमेगा। यदि पुण्य के स्थान पर पाप होंगे तो वे मनुष्य को इस दिशा से विमुख करेंगे। अभिनवगुप्त 'हृदय की निर्मलता' को भी महत्त्व देते हैं। समुन्नत मस्तिष्क वाला, दैहिक आवश्यकताओं की परिधि से उठा हुआ, निर्व्यसन और साथ में सुकुमार यानी कोमल हृदय वाला मनुष्य ही काव्यानुशीलन का सच्चा पथगामी हो सकता है, 'सहृदय' हो सकता है।

दूसरी तरह से कहा जाए तो श्रेष्ठ मानवीय संवेदनाओं से परिपूर्ण मनुष्य शिक्षित और परिष्कृत संस्कारों की पूंजी धारण कर 'सहृदय' बन सकता है। 'सहृदय' के भीतर वह प्रतिभा और शक्ति होती है कि वह काव्यार्थ को उसी शिद्दत और गहनता, पूर्णता एवं तीव्रता के साथ अनुभव करता है, जानता है। 'तन्मयीभवन' की योग्यता ही सहृदयता है। पंडितराज जगन्नाथ कहते हैं कि जिस प्रकार समाधिस्थ योगी को स्वरूपानंदाकार चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है वह स्वयं आनंद स्वरूप और ब्रह्म रूप हो जाता है उसी प्रकार तन्मयीभवन योग्यता के कारण सहृदय कवि के चित्त के साथ तन्मय होकर काव्यानंद के मर्म तक पहुंच जाता है। 'सहृदय' बाह्य सौंदर्य पर नहीं टिकता, वह अंतर्मन का भेदन करता हुआ समभाव पर पहुंचता है। रचना को नहीं रचना के कारण को भी लक्ष्य बनाता है। आत्मप्रकाश से भर उठने वाले हृदय की रचनात्मक सौंदर्य के प्रति दृष्टि गहन होती है। इसलिए आचार्यों ने हृदय को 'विमर्श' भी कहा है। विमर्श या हृदय जो सूखे झुर्रीदार मुख के पीछे छिपी तपस्या के सौंदर्य को अनुभूत कर जगमगा उठता हो उसे रचनात्मक सौंदर्य के नाम से जाना जा सकता है। ऐसा हृदय ही 'सहृदय' हो सकता है। ऐसे हृदय को धारण करने वाला पात्र 'सहृदय' हो सकता है। साहित्य जो काव्य का पर्याय माना जाता था उसमें सहृदय की अवधारणा साभिप्राय हुई थी। जो वर्तमान में भी प्रासंगिक है।

काव्य में रसानुभूति के लिए सहृदय का होना आवश्यक है। सहृदय के हृदय में स्थित सुप्त स्थायी भाव विभावादिकों को ग्रहण करके रसानुभूति से सिक्त हो जाते हैं। सहृदय और कवि के बीच तादात्म्य स्थापित हो जाता है जब सहृदय काव्य का पठन या श्रवण करता है उस काव्य में निहित भाव उसे कवि के भावों से तादात्म्य स्थापित करने में सहायक बनते हैं। कवि के भावों से तादात्म्य स्थापित होते ही काव्य के भावों का असाधारणत्व साधारण होने लगता है। साधारणीकरण की इस प्रक्रिया से रस निष्पत्ति होती है और सहृदय काव्यानंद में डूबता हुआ ब्रह्मानंद की ओर बढ़ने लगता है। रस सिद्धांत सदैव प्रासंगिक रहा है। रस परंपरा ऋग्वेद से अद्यतन निरंतर है। जब तक जीवन है, साहित्य है तो रस है। रस है – तभी जीवन है। यही चक्र शाश्वत है।

2.6.2 रस दोष

आचार्य मम्मट ने तेरह प्रकार के रस–दोष माने हैं।

व्यभिचारिरसस्थायिभावनां शब्दवायता।
कष्टकल्पनाया व्याक्तिरनुभावविभाववयोः।।
प्रतिकूलविभावादिग्रहो दीप्तिः पुनः पुनः।
अकाण्डे प्रथनच्छेदौ अङ्गस्याप्यतिविस्तृतिः।।

अङ्गिनोंऽननुसन्धानं प्रकृतीता विपर्ययः।
अनङ्गस्याभिधानं च रसे दोषाः स्युरीदृशाः॥

1. व्यभिचारी भाव (क्रीड़ा, करुणा, ईर्ष्या) आदि की स्वशब्द-वाच्यता।
2. रस (शृंगारादि) की स्वशब्द-वाच्यता।
3. स्थायी भाव (रति, उत्साहादि) की स्वशब्द-वाच्यता।
4. अनुभावों की क्लिष्ट कल्पना से अभिव्यक्ति।
5. विभावों की क्लिष्ट कल्पना से अभिव्यक्ति।
6. प्रतिकूल विभावादि का ग्रहण।
7. रस की पुनः-पुनः दीप्ति (वर्णन)
8. अकाण्ड (अनवसर) में रस का प्रथम (विस्तार)
9. अकाण्ड (अनवसर) में रस-विच्छेद।
10. अंग (अप्रधान गौण पात्र या रस) का अधिक विस्तार वर्णन।
11. अंगी का अनुसन्धान (अर्थात प्रधानभूत नायक आदि का विस्मरण)
12. प्रकृतियों (पात्रों) का विपर्यय।
13. अनंग (प्रधान रस के अनुपकारक) का वर्णन।

रस दोषों के क्रमशः उदाहरण-

1. व्यभिचारी भाव की स्वशब्द-वाच्यता-

जहां व्यभिचारी भावों का उसके वाचक शब्दों द्वारा कथन किया जाता है, वहां व्यभिचारी भाव की स्वशब्द-वाच्यता नामक दोष होता है। जैसे-

सव्रीडा दयितानने सकरुणा मातङ्गचर्माम्बरे
सत्रासा भुजगे साविस्मयरसा चन्द्रेऽमृतस्यन्दिनि।
सेर्ष्या जह्नुसुतावलोकनविधौ दीना कपालोदरे
पार्वत्या नवसङ्गमप्रणयिनी दृष्टिः शिवायाऽस्तु वः॥

नये मिलन के समय प्रीतिमयी भगवती पार्वती की वह दृष्टि आप लोगों के कल्याण के लिये हो, कल्याणकारी (शिवाय) हो। जो प्रिय के प्रति लज्जामयी, उनके हस्ति चर्ममय परिधान के प्रति करुणामयी, सर्प के प्रति भयसहित, माथे पर स्थित अमृत-वर्षा करने वाले चन्द्रमा के प्रति विस्मय रस से युक्त, जह्नु-पुत्री गंगा के दर्शन से ईर्ष्या-युक्त तथा कपाल से युक्त शिव के उदर के प्रति दैन्य से भरी थी।

प्रस्तुत श्लोक में व्रीडा, करूण, क्रास, विस्मय, ईर्ष्या तथा दैन्य आदि व्यभिचारी भावों का अपने वाचक शब्दों द्वारा कथन होने से व्यभिचारी भावों की स्वशब्द वाच्यता दोष है। इसलिए यहां आस्वाद की अनुपस्थिति ही दूषकता का बीज है।

2. (क) रस का स्वशब्द से कथन

जहां 'रस' का अथवा रस के वाचक 'शृंगारादि' का अपने वाचक शब्द से कथन किया जाता है, वहां रस का स्वशब्दवाच्यता नामक दोष होता है। यथा-

तामनृङ्गजयमृङ्गलश्रियं किञ्ज्दुच्चभुजमूललोकिताम्।
नेत्रयोः कृतवतोऽस्य गोचरे कोऽप्यजायत रसो निरन्तरः।।

काम से सम्बन्धी विजय की मृङ्गल लक्ष्मी रूप, कुछ ऊँची भुजाओं के मूल प्रान्त में दिखाई देने वाली उस नायिका को आँखों के सम्मुख देखने पर इस नायक के हृदय में निरंतर अनिर्वचनीय शृंगार रस का आविर्भाव हुआ। उस मृगनयनीं को देखकर कोई अपूर्व रस उत्पन्न हुआ। यहां 'रस' का अपने वाचक शब्द 'रस' द्वारा कथन है। अतः स्वशब्द-वाच्यता दोष है।

(ख) रस के वाचक शृंगारादि का स्वशब्द से कथन–

चन्द्रमण्डलमालोक्य शृंगारे मग्नमन्तरम्।

चन्द्रमण्डल को देखकर हृदय शृंगार में डूब गया। प्रस्तुत गद्य में रस के वाचक शृंगार का अपने वाचक शब्द 'शृंगार' द्वारा कथन है। अतः यह भी स्वशब्द-वाच्यता दोष है।

3. स्थायी भाव का स्वशब्द से कथन–

सम्प्रहारे प्रहरणैः प्रहाराणां परस्परम्।
ठणत्कारैः श्रुतिगतैरुत्साहस्तस्य कोऽप्यभूत्।।

युद्ध में शस्त्रों द्वारा किये जाने वाले प्रहारों के ठन-ठन शब्द से उस स्वाभाविक वीर पुरुष के हृदय में कोई अनिर्वचनीय उत्साह हुआ। इस श्लोक में वीर रस के स्थायी भाव 'उत्साह' का अपने वाचक शब्द 'उत्साह' द्वारा कथन है।

4. अनुभाव की कष्ट कल्पना का उदाहरण–

कर्पूर धूलिधवलद्युतिपूरधौत
दिङ्मण्डले शिशिरोचिषि तस्य यूनः।
लीला-शिरोऽशुक-निवेश-विशेष-क्लृप्ति
व्यक्तस्तनोन्नतिरभून्नयनावनौ सा।।

चन्द्रमा के द्वारा कपूर की धूलि के समान उज्ज्वल तथा दिग् मण्डल को निर्मल बना देने वाले चन्द्रमा के उदित होने पर, लीलापूर्वक सिर पर पल्ला डालने के विशेष ढंग से अपने स्तनों की उन्नति को व्यक्त करने वाली वह नवयौवना उस युवक को दिखाई दी।

यहां पर शृंगार रस के उद्दीपन विभाव चन्द्रमा और आलम्बन विभाव नायिका का तो वर्णन है, परन्तु नायक में उत्पन्न अनुभावों का वर्णन नहीं है। लेकिन इस उद्दीपन की अवस्था में नायिका को देखकर नायक में स्वेद, रोमांच आदि अनुभाव उत्पन्न हुए होंगे, (जिनका वर्णन नहीं है) वे कठिन कल्पना से ही जाने जाते हैं।

5. विभाव की कष्ट कल्पना का उदाहरण–

परिहरति रतिं मतिं लुनीते स्खलति भृशं परिवर्तते च भूयः।
इति बत विषमा दशाऽस्य देहं परिभवति प्रसभं किमत्र कुर्मः।।

इस नाटक में नायक (कामिनी के वियोग में) सभी वस्तुओं से अपनी प्रीति (रति) को हटा रहा है। (परिहरति)। वस्तु-पहचानने की शक्ति को खो रहा है। बार-बार गिरता है और बार बार जमीन पर लोट-पोट होता है। खेद है कि इस प्रकार विषम विरह की अवस्था इसके

जैसे 'महावीर चरित' नाटक के द्वितीय अंग में राम तथा परशुराम के एक दूसरे के रमो संवाद में वीर रस के चरमोत्कर्ष पर पहुंचने पर 'कङ्कणमोचनाय गच्छानि' कंकण खोलने के लिए जा रहा हूं। विवाह के दसवें दिन कंकणमोचन क्रिया की अनवसर उपस्थिति से यहां रसभंग हुआ।

रामचन्द्र का यह कथन सहृदयों की रसानुभूति में बाधक होने से दोष हो जाता है।

10. अंग (अप्रधान पात्र या रस) का विस्तार से वर्णन–

अङ्गस्याप्रधानस्यातिविस्तरेण वर्णनम्। यथा ह्यग्रीववधे इयग्रीवस्य।

अंग का या अप्रधान प्रतिनायक आदि का वर्णन किया जाना भी दोष है जैसे 'हयग्रीव वध' नाटक में नायक विष्णु की अपेक्षा अप्रधान प्रतिनायक 'हयग्रीव' की जल–क्रीड़ा एवं वन–विहार आदि क्रीड़ाओं का विस्तार से वर्णन दोष है। इसी प्रकार से महाकवि भारवि–विरचित वीर रस प्रधान 'किरातार्जुनीयम्' महाकाव्य के आठवें सर्ग में अप्सराओं की शृंगार–परक विलास–क्रीड़ाओं का विस्तृत वर्णन दोषपूर्ण है।

11. अंगी का अनुसन्धान (अर्थात् प्रधानभूत नायक आदि का विस्मरण)–

अङ्गिनोऽननुसंधानम्। यथा रत्नावल्यां चतुर्थेऽङ्के बाभ्रव्या–
गमने सागरिकाया विस्मृतिः।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका के चतुर्थ अंक में वाभ्रव्य के आने पर राजा उदयन अवान्तर विषयों में प्रधान नायिका को भूल जाते हैं। काव्य के प्रधान नायक या नायिका का अनुसन्धान न करना अर्थात् भूल जाना भी काव्य का दोष ही है।

प्रकृतयो दिव्या अदिव्या दिव्यादिव्या, वीररौद्रश्रृङ्गारशान्त रसप्रधाना
धीरोदात्त–धीरोद्धत–धीरललित–धीरप्रशान्ताः, उत्तमाधममध्य माश्च।

12. प्रकृति का विपर्यय–

जिस प्रकार की प्रकृति के लिए जो वर्णन अनुचित हो, उसका वहां प्रकृति–विपर्यय नामक रस–दोष है। इस प्रकृति विपर्यय दोष को बताने के लिए उसकी प्रतियोगी रूप प्रकृतियों को बताने हैं।

13. अनंग (प्रधान रस के अनुपारक का वर्णन)–

अनङ्गस्य रसानुपकारकस्य वर्णनम्। यथा–कर्पूरमञ्जर्या नायिकया
स्वात्मना च कृतं वसन्तवर्णनमनादृ बन्दिवार्णितस्य राज्ञा प्रशंसनम्।

रस के अनुपकारक अनंग का वर्णन जैसे 'कर्पूरमञ्जरी' नाटिका में नायिका विभ्रमलेखा और अपने द्वारा वर्णित वसन्त की उपेक्षा करके चारणों द्वारा वर्णित वसन्त शोभा की राजा (चण्डपाल) द्वारा करना। किन्तु इस प्रकार के वर्णन से नाटिका के प्रधान रस शृंगार की अभिव्यक्ति में कोई सहायता नहीं मिलती।

आचार्य मम्मट ने–'रसे दोषाः स्युरीदृशाः' कहकर इस बात की ओर संकेत दिया है कि सुरत–क्रीड़ा में नायिका के पाद–प्रहार आदि से नायक के कोपादि का वर्णन भी रसदोष है।

शरीर को बरबस अभिभूत कर रही है। (अर्थात् बहुत अधिक विस्मृति उत्पन्न कर रही है तथा हर क्षण लगातार परिवर्तित सी होती जा रही है।) यहां पर वर्णित बेचैनी का होना, बुद्धि का नष्ट होना, बार-बार गिरना, लोट-पोट होना आदि अनुभाव न केवल शृंगार रस में अपितु भयानक एवं वीभत्स रस में भी सम्भव है।

अतः कामिनीरूप विभाव की प्रतीति कठिनता से होती है। यही विभाव की कष्ट कल्पना है।

6. प्रतिकूल विभावादि का ग्रहण–

प्रसादे वर्तस्व प्रकटय मुदं संत्यज रुषं!
प्रिये! शुष्यन्तृङ्गान्यमृतमिव ते सिञ्चत वचः।
निधानं सौख्यानां क्षणमभिमुखं स्थापय मुर्खन मुग्धे!
प्रत्येतुं प्रभवति गतः कालहरिणः॥

हे प्रिय प्रसन्नता को धारण करो, हर्ष को प्रकट करो और क्रोध को समाप्त करो, अमृत के समान तुम्हारे वचन मेरे अंग-प्रत्यंगों को शक्ति दें। जो सुखों के उत्पत्ति स्थान हैं अर्थात् अपने मुख को क्षण भर के लिए मेरे सामने करो। अरी विवेक शून्य भोली स्त्री! बीता हुआ समय रूप हरिण फिर लौटाया नहीं जा सकता। 'मान मा वुरू तन्पङ्गी!'

हे कृशोदरि! यौवन को अस्थिर जानकर मान छोड़ दे। यहां पर शृंगार रस के प्रतिकूल शान्त रस के विभाव के वर्णन से निर्वेद रूप व्यभिचारी भाव का प्रतिपादन किया गया है। अतः प्रकृत शृंगार रस के प्रतिकूल और शान्त रस के अनुकूल 'अस्थिरतारूप' विभाव तथा 'निर्वेदरूप' व्यभिचारी भाव का ग्रहण रस-दोष है।

7. रस की पुनः-पुनः दीप्ति–

दीप्तिः पुनः पुनर्यथा कुमारसम्भवे रतिविलापे।

अपनी सामग्री से परिपुष्ट हुई रस-धारा का ज्ञेयान्तर के सम्बन्ध से बीच-बीच में विच्छेद कर उसे पुनः-पुनः दीप्त करना भी एक प्रकार का रस दोष है। इस दोष का अर्थ है कि रस का पूर्ण परिपाक हो जाने पर भी फिर उसका वर्णन करना जैसे-कुमारसम्भव में कामदेव के भस्म हो जाने पर रति के विलाप का वर्णन बार-बार किया गया है।

8. अकाण्ड (अनवसर) में रस का प्रथम विस्तार–

अकाण्डे प्रथनं यथा-वेणीसंहारे द्वितीयेऽङ्केऽनेकवीरक्षये प्रवृते
भानुमत्या सह दुर्योधनस्य शृङ्गारवर्णनम्।

अनवसर पर रस का विस्तार के साथ वर्णन भी दोष रूप ही है। जैसे वेणीसंहार नाटक में भीष्मादि अनेक वीरों के विनाश का प्रसंग उपस्थित होने पर भानुमती के साथ दुर्योधन का शृंगार-वर्णन अनुचित होने से दोष है।

9. अकाण्ड में रस का विच्छेद भंग–

अकाण्डे छेदो यथा वीरचरिते द्वितीयेऽङ्के राघवमार्गवयोर्धारा
धिरूढे वीररसे 'कङ्कणमोचनाय गच्छामि' इति राघवस्योक्तौ।

अतः स्पष्ट है कि आचार्य मम्मट ने अपने काव्य-लक्षण में 'अदोषौ' पदों का सन्निवेश कर उसे पूर्णता प्रदान की है।

2.7 सारांश

रस परंपरा का प्रामाणिक ग्रंथ नाट्यशास्त्र को माना जाता है जिसे पांचवां वेद भी स्वीकार किया गया है। इसके प्रणेता आचार्य भरतमुनि रस की महत्ता को प्रतिपादित करने वाले प्रथम आचार्य माने गए हैं यद्यपि इनसे पूर्व रस की चर्चा करने के संबंध में आचार्य नंदिकेश्वर एवं उनके ग्रंथ अभिनव दर्पण का उल्लेख किया जाता है किंतु इसके अप्रामाणिक एवं अप्राप्य होने के कारण भरत का 'नाट्यशास्त्र' ही रस संबंधी प्रथम ग्रंथ ठहरता है।

आचार्य भरतमुनि के रस सूत्र–'विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' की चार टीकाकारों ने अपने-अपने तरीके से व्याख्या की। भट्टलोल्लट ने 'निष्पत्ति' शब्द को 'उत्पत्ति' के अर्थ में लेते हुए 'उत्पत्तिवाद' की प्रतिष्ठा की, वहीं शंकुक ने रस को अनुमान का विषय बताते हुए 'निष्पत्ति' का अर्थ अनुमिति के रूप में लिया और 'अनुमितिवाद' की स्थापना की।

पंडितराज जगन्नाथ तक रसवादी आचार्यों की सुदीर्घ परंपरा दृष्टिगोचर होती है। पंडितराज जगन्नाथ लिखते हैं–'एवं पञ्चात्मके ध्वनौ परम रमणीयतया रसध्वनेस्तदात्मा रसस्तावदभिधीयते।' इस रस का एक रूप भक्ति रस के रूप में हमें रूप गोस्वामी की 'उज्ज्वल नीलमणि' में मिलता है। इसमें भक्ति के पांच प्रकार–शांत, हास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य माने गए हैं। ये सभी भाव कृष्ण को समर्पित हैं। माधुर्य भाव को भक्ति रसराट् कहते हैं।

रसों की संख्या दस हैं–श्रृंगार, वीर, हास्य, रौद्र, भयानक, वीभत्स, करुण, अद्भुत, शांत और वात्सल्य। 'भक्ति रस' को ग्यारहवें रस के रूप में देखा जाता है।

भरत के रससूत्र में आए 'निष्पत्ति' शब्द को 'उत्पत्ति' के अर्थ में लेते हुए उत्पत्तिवादी भट्टलोल्लट ने उत्पत्तिवाद की प्रतिष्ठा की। इनका मानना है कि नाटक में रस मुख्यतः नायक-नायिका में ही उत्पन्न होता है परंतु उनका अभिनय द्वारा अनुकरण करने वाले नटों में उस रस की प्रतीति होती है। इस रस की उत्पत्ति विभाव, अनुभाव और संचारी भाव तीनों के संयोग से होती है। विभाव के द्वारा रस उत्पन्न होता है। अनुभाव के द्वारा रस की प्रतीति होती है और संचारी भाव द्वारा रस की पुष्टि होती है।

सामाजिकों के हृदयों में वासना रूप से स्थित स्थायी भाव काव्य में वर्णित विभावादि के कारण उद्बुद्ध होकर रस रूप में परिणत हो जाते हैं। इसके लिए भट्टनायक ने तीन स्थितियों का विवेचन किया–(1) अभिधा, (2) भावकत्व और (3) भोजकत्व। काव्य में सदैव असाधारण या विशेष का ही प्रतिपादन किया जाता है। काव्य का वह विशेष जब साधारण या सामान्य रूप में प्रतिभाषित होने लगता है, तब वह स्थिति साधारणीकरण की स्थिति कहलाती है।

संचारी भाव ऐसे मनोवेग या शारीरिक प्रतिक्रियाएं हैं जो स्थायी भावों की पुष्टि के लिए संचरणशील होते हैं। एक ही संचारी भाव अनेक रसों की पुष्टि के लिए प्रकट हो जाता है इसलिए संचरणशील होने के कारण संचारी और एक ही भाव से इनका निश्चित संबंध न होने के कारण इन्हें व्यभिचारी नाम दिया गया।

'सहृदय' का प्रथम प्रयोग संभवतः अथर्ववेद में मिलता है। 'अथर्ववेद' में इस शब्द की प्राप्ति महत्वपूर्ण है। भरतमुनि ने 'रस' को 'अथर्ववेद' से ही लिया। आयुर्वेद उसका उपवेद है और उसमें भी अपने तरीके से 'रस' भाव का विवेचन है। भवभूति आयुर्वेद का आधार लेकर ही राम के करुण रस को **'पुटपाकप्रतीकाश'** कहते हैं तथा क्षेमेंद्र रसायनतंत्र को संदर्भित करते हुए **'औचित्य रस-सिद्धस्य'** कहते हैं। इसलिए अथर्ववेद में प्रयुक्त 'सहृदय' को महत्वपूर्ण माना जाता है। उसमें 'सहृदयं सामनस्यमद्विषं कृणोमिवः' पंक्ति मिलती है जिसमें 'सहृदय' का अर्थ 'समान हृदय' है।

'सहृदय' बाह्य सौंदर्य पर नहीं टिकता, वह अंतर्मन का भेदन करता हुआ समभाव पर पहुंचता है। रचना को नहीं रचना के कारण को भी लक्ष्य बनाता है। आत्मप्रकाश से भर उठने वाले हृदय की रचनात्मक सौंदर्य के प्रति दृष्टि गहन होती है। इसलिए आचार्यों ने हृदय को 'विमर्श' भी कहा है। विमर्श या हृदय जो सूखे झुर्रीदार मुख के पीछे छिपी तपस्या के सौंदर्य को अनुभूत कर जगमगा उठता हो उसे रचनात्मक सौंदर्य के नाम से जाना जा सकता है। ऐसा हृदय ही 'सहृदय' हो सकता है। ऐसे हृदय को धारण करने वाला पात्र 'सहृदय' हो सकता है।

2.8 मुख्य शब्दावली

- **सृजन** : रचना।
- **सर्जक** : रचनाकार।
- **ध्यानस्थ** : ध्यान में स्थित।
- **नियंता** : नियंत्रक।
- **औषधि** : दवा।
- **निष्पत्ति** : उत्पत्ति।
- **काव्यात्मा** : कविता की आत्मा।
- **बिखेरना** : फैलाना।
- **निर्विवाद** : बिना विवाद के।
- **रसानुभूति** : आनंद का अनुभव।
- **दृष्टिगोचर** : दिखाई देना।
- **अनिवार्य** : आवश्यक।
- **स्वप्रकाशानंद** : अपने प्रकाश से आनंदित।
- **तिरोहित** : समाप्त।
- **ऐंद्रिय** : इंद्रियों से संबंधित।
- **परिधि** : सीमा।
- **समूल** : जड़ से।

- **नैसर्गिक** : प्राकृतिक।
- **उक्ति** : कथन।
- **चेष्टा** : प्रयास।
- **व्याधि** : रोग।
- **विषाद** : कष्ट।
- **प्रतिस्पर्धा** : प्रतियोगिता।

2.9 'अपनी प्रगति जांचिए' के उत्तर

1. अलग-अलग अर्थ में
2. नौ
3. (क) गलत, (ख) सही
4. रस की भावभूमि पर
5. नाट्यशास्त्र को
6. (क) सही, (ग) गलत
7. आठ
8. संयोग शृंगार एवं वियोग शृंगार
9. (क) सही, (ख) गलत
10. रस निष्पत्ति
11. तीन रूपों की (अभिधा, भावकत्व, भोजकत्व)
12. (क) सही, (ख) गलत
13. तीन (विभाव, अनुभाव, संचारी भाव)
14. उद्दीपन
15. (क) गलत, (ख) सही

2.10 अभ्यास हेतु प्रश्न

लघु-उत्तरीय प्रश्न

1. नाट्यशास्त्र में विभाव, अनुभाव आदि का विवेचन करते हुए भरतमुनि ने क्या कहा है?
2. रस के अलौकिकत्व से क्या आशय है?
3. पंडितराज जगन्नाथ द्वारा मान्य आनंद की कोटियां क्या हैं?
4. रसों का नामोल्लेख कीजिए।

5. साधारणीकरण क्या है?

6. संचारी भावों का उल्लेख कीजिए।

दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न

1. रस की अवधारणा पर प्रकाश डालते हुए इसकी महत्ता बताइए।
2. रस की विभिन्न परिभाषाओं की विवेचना कीजिए।
3. रस के स्वरूप को व्याख्यायित कीजिए।
4. सभी रसों का सामान्य परिचय दीजिए।
5. रस निष्पत्ति कैसे होती है? साधारणीकरण से यह कैसे संबंधित है?
6. रस के अवयवों का परिचयात्मक उल्लेख कीजिए।

2.11 आप ये भी पढ़ सकते हैं

1. डॉ. भगीरथ मिश्र, *काव्यशास्त्र*, विश्वविद्यालय प्रकाशन गोरखपुर-1957
2. डॉ. प्रेमनारायण शुक्ल, *हिन्दी साहित्य में विविध वाद*, पद्मजा प्रकाशन कानपुर 2010-वि.सं.
3. डॉ. वेंकट शर्मा, भूमिका नगेंद्र, *आधुनिक हिंदी साहित्य में समालोचना का विकास*, आत्माराम एंड संस दिल्ली-1967
4. डॉ. जगदीश प्रसाद कौशिक, *काव्य दर्पण*, साहित्यागार, जयपुर-1988
5. डॉ. जगदीश प्रसाद कौशिक, *भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिमान*, साहित्यागार जयपुर -1988
6. सत्यदेव मिश्र, *पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धांत और वाद*, विनोद पुस्तक मंदिर आगरा,1975
7. डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी, *सहृदय और साधारणीकरण*, हिंदुस्तान एकेडमी इलाहाबाद, 1984
8. डॉ. लक्ष्मी पांडेय, *अधुनातन काव्यशास्त्री : आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी*, उर्मिल प्रकाशन, गाजियाबाद।

इकाई 3 : काव्यशास्त्र – III

3.0 परिचय

काव्य और छन्द का अटूट संबंध है। विश्व काव्य साहित्य आदिकाल से ही छन्दोबद्ध रूप में रचा गया है। छन्दों का आधार संगीत है। विभिन्न छन्दों का निर्माण संगीत-शास्त्र के आधार पर ही हुआ है। प्राचीन काल से आधुनिक युग के पूर्व तक काव्य में छन्दों की अनिवार्यता का सिद्धांत मान्य रहा है। वैदिक साहित्य से ही स्पष्ट विदित होता है कि शास्त्र-बद्ध छन्दों के अतिरिक्त कहीं-कहीं शास्त्र मुक्त छन्दों का भी प्रयोग होता था पर वह (शास्त्र-मुक्त) छन्द भी होता छन्द ही था जिसमें स्वर, लय का एक व्यवस्थित क्रम संगीतात्मकता उत्पन्न करता था। आधुनिक युग में जो स्वच्छन्द छन्द की बात निराला ने संभवत: अंग्रेजी या बांग्ला के प्रभाव से हिंदी में की थी, वह कोई नई बात नहीं थी। निराला ने केवल नियम बंधन का विरोध किया था, छन्द का नहीं अर्थात निराला ने कविता करते समय मात्राओं या अक्षरों की निश्चित गणना से युक्त नियमबद्ध छन्दों के प्रतिबंध का विरोध किया था, भाषा के निश्चित प्रवाह का नहीं; जो अंतत: छन्द ही होता है, चाहे उसका पूर्वनामकरण न हुआ हो।

भारतीय काव्यशास्त्र में प्रारंभ से ही छन्द को अनिवार्य मानने की परंपरा मौजूद रही है। भारतीय मनीषी चारक ने छन्दों की परिभाषा देते हुए कहा है कि ये भावों को आच्छादित कर उन्हें समष्टि रूप प्रदान करते हैं। कविता में छन्दों के प्रयोग से संगीतात्मकता आ जाती है और संगीत के समावेश से कविता का प्रभाव और महत्व बढ़ जाता है।

वैदिक काल में जिन छन्दों का सर्वाधिक प्रयोग होता था उनमें गायत्री, अनष्टुप, त्रिष्टुप, वृहती, पंक्ति, जगती आदि छन्द प्रमुख हैं। इन छन्दों की गति स्वरों के आरोहावरोह पर आधारित थी। आगे चलकर प्राकृत-अपभ्रंश काल में मात्रिक छन्दों का विकास हुआ, जैसे-छप्पय, कुंडलिया, दोहा, चौपाई, सोरठा, रोला आदि। आधुनिक काल में हिन्दी छन्द-परंपरा ने नया मोड़ लिया तथा अयोध्या सिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त, रूपनारायण पांडेय आदि कवियों ने संस्कृत के वर्ण छन्दों की रचना की। किन्तु हिन्दी की आश्लिष्ट प्रकृति के प्रतिकूल होने के कारण आज छन्दों के प्रयोग में काफी कमी आई है।

इस इकाई में हम काव्यशास्त्र के दो सिद्धांत छन्द एवं अलंकार का अध्ययन करेंगे।

3.1 इकाई के उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप-

- छन्द की अवधारणा, अवयव एवं मात्रागत स्थिति को समझ पाएंगे;
- कविता में छन्द का स्थान स्पष्ट कर पाएंगे;
- प्रमुख छन्दों को सोदाहरण रेखांकित कर पाएंगे;
- अलंकार की अवधारणा एवं काव्य में स्थान का उल्लेख कर पाएंगे;
- शब्द एवं अर्थालंकार को समझ पाएंगे;
- प्रमुख अलंकारों के लक्षण एवं उदाहरण की विवेचना कर पाएंगे।

3.3 अलंकार

काव्य शरीर, उसके नित्यधर्म तथा बहिरंग उपकारक का विचार करते हुए अलंकारों का स्थान निर्धारण किया जाता है। अलंकारों की योजना का वास्तविक कारण मन का ओज है। अलंकार कविता-कामिनी के सौंदर्य को बढ़ाने वाले तत्व होते हैं।

3.3.1 अलंकार की अवधारणा

'अलंकार' का सामान्य अर्थ है–गहना या आभूषण जो देह की शोभा बढ़ाते हैं। काव्य के संदर्भ में भी इसे शोभा बढ़ाने वाले धर्म और तत्व के रूप में लिया जाता है। बाह्य तत्व के रूप में काव्य को अलंकृत करने वाले शब्दालंकार तथा धर्म के रूप में शब्द की आत्मा में धारित यानी अर्थ को अलंकृत करने वाले अर्थालंकार। काव्य की आत्मा 'रस' है या अन्य कोई लक्षण इस तर्क-वितर्क के आरंभिक दौर में सर्वप्रथम अलंकार सिद्धांत का जन्म हुआ। काव्य की आत्मा अलंकार है ऐसा मत इस सिद्धांत के अंतर्गत स्थिर हुआ। आचार्य भामह इस संप्रदाय के प्रवर्तक हैं। आचार्य रुद्रट एवं जयदेव ने इस सिद्धांत को प्रतिष्ठा प्रदान की।

'अलंकार' शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जाती है–(1) **अलंक्रियते अनेन इति अलंकारः** और (2) **अलंकरोति इति अलंकारः**। पहली व्याख्या के अनुसार अलंकार की प्रतिष्ठा एक उपादान या 'करण' के रूप में सिद्ध होती है और यह काव्य के मूल से उसका पार्थक्य बताती है।

दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार अलंकार काव्य का वह तत्व है जो उसे (काव्य को) सुंदर बनाता है। अर्थात काव्य का ही एक अंग है जो उसका सौंदर्याधायक तत्व है। अलंकारवादियों ने इन दोनों ही व्युत्पत्तियों को आधार मानकर यथास्थान और यथावश्यकता अलंकार की व्याख्या और उसकी महत्ता का दिग्दर्शन कराया है।

अलंकार सिद्धांत का काव्यशास्त्र में काव्य लक्षण के रूप में विशेष महत्व है। यह सत्य है कि यह काव्यात्मा नहीं हो सकता, साध्य नहीं हो सकता। यह साधन मात्र है किंतु रस का सहयोगी हो सकता है। काव्य के लिए किसी आचार्य ने काव्य पुरुष कहा, किसी ने कविता कामिनी...। काव्य पुरुष हो या कविता कामिनी दोनों ही दृष्टियों से उनके लिए आत्मा रस है और अलंकार उनके शोभाधायक धर्म हैं।

काव्य की शोभा बढ़ाने के लिए अलंकार का उपयोग किया जाता है। यह उपयोगिता तो सिद्ध है ही इसके अतिरिक्त अलंकार काव्य का ऐसा लक्षण है जो इसे वक्रोक्ति और ध्वनि से भी जोड़ता है। रस तो काव्य की आत्मा है ही, औचित्य आत्मा की भी आत्मा है। जहां तक वक्रोक्ति का प्रश्न है वह भी अलंकार है। यह शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों में सम्मिलित है। वक्रोक्ति यानी व्यंग्यार्थ व्यंजना जोकि उत्तम ध्वनि है। इससे निर्मित काव्य उत्तम काव्य की श्रेणी में आता है। अतः अलंकार सिद्धांत की उपयोगिता वक्रोक्ति एवं ध्वनि सिद्धांत को जानने के साथ-साथ पूरे काव्यशास्त्र की महिमा को जानने के लिए भी है।

अलंकार के भेद असंख्य हैं क्योंकि यह अंतर्बाह्य की शोभा को बढ़ाने वाला लक्षण है। शब्द की, अर्थ की, भाव की शोभा बढ़ाते हुए यह भेदोपभेद होते जाना स्वाभाविक है। काव्यशास्त्रीय जगत में अलंकार सिद्धांत वस्तुतः स्वयं भी अलंकार ही है।

3.3.2 अलंकारों का काव्य में स्थान

अलंकारवादियों ने अलंकार को काव्य की आत्मा स्वीकार करते हुए अलंकार रहित रचना को काव्य मानने से इनकार किया है। ऐसी घोषणा सर्वप्रथम भामह ने की। उनके अनुसार नारी का मुख सुंदर होते हुए भी आभूषणों के बिना शोभा नहीं देता–

'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिता मुखम्।' अलंकारवादियों ने 'शोभा' शब्द का प्रयोग काव्य के मुख सौंदर्य के अर्थ में या फिर उसकी आत्मा के अर्थ में किया है। भामह की उक्त पंक्ति से स्वतः सिद्ध होता है कि 'भामह' की दृष्टि में वनिता के स्वाभाविक सौंदर्य का अलंकारों के बिना कोई मूल्य नहीं है। भामह कथन के दो रूप मानकर चलते हैं– (1) कथन का प्रकृत रूप अर्थात अनलंकृत रूप और (2) रमणीय अर्थात अलंकृत रूप।

इनमें प्रथम अकाव्य या वार्ता है तथा दूसरा अपने समग्र रूप में काव्य है और यही अलंकार है। वस्तुतः भामह ने अलंकार और अलंकार्य में भेद नहीं किया, क्योंकि उनकी दृष्टि में समग्र काव्य ही अलंकार है। अतः उससे भिन्न किसी अन्य तत्व की कल्पना उनकी सीमा से बाहर की वस्तु थी। अलंकार और अलंकार्य की धारणा का आरंभ ध्वनिवादियों ने किया था। कुंतक की दृष्टि भी इस तथ्य की ओर गई थी किंतु उन्होंने इसे केवल प्रतिपादन का माध्यम मात्र स्वीकार किया, क्योंकि उनकी दृष्टि में 'शब्द' 'अर्थ और अलंकार' की समष्टि का नाम काव्य है। इन्हें एक दूसरे से पृथक करके नहीं देखा जा सकता। भामह ने अलंकार के मूल में अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति को माना है। उक्ति की अतिशयता या चमत्कार ही

अलंकार है और वक्रोक्ति तथा अतिशयोक्ति में कोई अंतर नहीं है। दोनों का अर्थ ही 'विशिष्ट उक्ति' है। अंत में भामह अपने मंतव्य को पूर्णतः स्पष्ट कर देते हैं, जब यह कह देते हैं कि 'कोऽलंकारोऽनया विना' अर्थात वक्रोक्ति के अभाव में किसी भी अलंकार की कल्पना नहीं कर सकते। वक्रोक्ति के द्वारा ही अर्थ का विभावन होता है अर्थात अर्थ में वैचित्र्य आ जाता है। भामह ने अतिशयोक्ति को 'लोकातिक्रांतगोचरा' अर्थात शब्दार्थ के इतिवृत्त कथन से भिन्न चमत्कारपूर्ण प्रयोग कहा है और उसे ही फिर वक्रोक्ति कह दिया है–'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः' इससे स्पष्ट है कि 'वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति' दोनों ही 'लोकातिक्रांत गोचरा' अर्थात लोककथन से भिन्न विशिष्ट अर्थ का द्योतन कराने वाला कथन वक्रोक्ति है।

भामह ने अन्य का संकेत देते हुए 'स्वभावोक्ति' को भी एक अलंकार के रूप में अपनी स्वीकृति दी है, क्योंकि इन्होंने उक्त अलंकार का लक्षण भी दिया है और उदाहरण भी। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भामह इसे एक अलंकार के रूप में स्वीकार करते हैं।

सर्वप्रथम अलंकारों का क्रमबद्ध वैज्ञानिक विवेचन 'काव्यालंकार' में भामह ने किया। भामह ने अपने पूर्ववर्ती 'मेधाविन' का उल्लेख किया है जिससे यह पता चलता है कि अलंकार परंपरा पहले से चली आ रही है। लेकिन 'मेधाविन' या किसी भी रचनाकार का अलंकार संबंधी कोई ग्रंथ उपलब्ध न होने के कारण 'काव्यालंकार' को ही अलंकार संप्रदाय का प्रथम प्रामाणिक, उपयोगी और महत्वपूर्ण ग्रंथ माना जाता है। भरत ने इससे पूर्व 'नाट्यशास्त्र' में अलंकारों का वर्णन करते हुए उपमा, रूपक, दीपक और यमक चार अलंकारों को मान्यता दी थी। 'उपमा दीपकं चैव रूपकं यमकं तथा। काव्यस्यैते अलंकाराश्चत्वारः परिकीर्तिताः।' बाद में लगभग सभी आचार्यों ने अलंकारों की सत्ता को स्वीकार किया। किसी ने अलंकारों को काव्य का मुख्य तत्व माना तो कुछ ने काव्य में अलंकारों का महत्व है ऐसा स्वीकार किया। भामह कहते हैं, काव्य की आत्मा अलंकार है। रस आदि का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है बल्कि वे अलंकारों में ही उनका अंतर्भाव स्वीकार करते हैं। **'वक्राभिधेयशब्दोक्ति-रिष्टावाचामलंकृतिः'** अर्थात वे शब्द और अर्थ के वैचित्र्य को अलंकार की संज्ञा देते हैं। यह विचित्रता वक्रोक्ति में भी पाई जाती है अतः कहा जा सकता है कि अलंकार काव्य की आत्मा है और अलंकारों में वक्रोक्ति का स्थान मुख्य है। वक्रोक्ति अलंकारों को जीवन देने वाला तत्व है। भामह की दृष्टि में वक्रोक्ति से रहित कोई अलंकार नहीं होता। भामह कहते हैं–**'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते। यत्नोऽस्यांकविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना।'**

रुद्रट वक्रोक्ति को शब्दालंकार और वामन अर्थालंकार मानते हैं क्योंकि इसमें शब्द और अर्थ दोनों की विचित्रता होती है। भामह के बाद दंडी का मत महत्वपूर्ण है। वे काव्य के सौंदर्य को बढ़ाने वाले धर्मों को अलंकार मानते हैं–'काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।'

अलंकार को काव्य का नित्यधर्म मानते हुए उन्होंने अतिशयोक्ति को अलंकारों का सर्वस्व बताया–

'अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम्।।

दंडी ने काव्य के परिप्रेक्ष्य में अलंकारों को स्पष्ट किया है जबकि भामह ने सिद्ध किया कि–"काव्य एक स्वतंत्र एवं अपने में पूर्ण इकाई है।" फलतः दंडी ने काव्य-सौंदर्य के सभी तत्वों को अलंकार के अंतर्गत समाहित करने का प्रयास किया है। आपके अनुसार काव्य का विषयगत सौंदर्य सामान्य अलंकार का अंग है तो शैलीगत सौंदर्य विशेष अलंकार में समाहित हो जाता है। दंडी ने रसों को भी रसवत् अलंकारों के अंतर्गत सन्निविष्ट कर अलंकार्य और अलंकार की अभिन्नता की घोषणा कर दी। उधर दूसरी ओर दंडी वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति में अंतर मान कर चलते हैं किंतु भामह जहां स्वभावोक्ति को अलंकार मानकर उसे वक्रोक्ति के अंतर्गत परिगणित कर लेते हैं, वहां दंडी इसे इससे भिन्न रूप में स्वीकार करते हैं। उन्होंने समस्त वाङ्मय को दो वर्गों–स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति में विभाजित कर स्वभावोक्ति का शास्त्रादि में साम्राज्य बताया है तथा वक्रोक्ति को इससे भिन्न चमत्कारपूर्ण उक्ति का पर्याय कहा है। आपका कथन इस प्रकार है–

आगे चलकर दंडी स्पष्ट कर देते हैं कि 'शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यम्'। काव्यादर्श की हृदयंगमा टीका में स्पष्ट करते हुए टीकाकार लिखते हैं कि 'वक्रोक्ति शब्देन उपमादयः संकीर्णपर्यन्ता अलंकारा उच्यन्ते।' दंडी ने वक्रोक्ति के मूल में चमत्कार के लिए किसी-किसी रूप में 'श्लेष' का योग माना है–'श्लेषो सर्वासु पुष्णाति प्रायः वक्रोक्तिषु श्रियम्'। यहां पर वे चमत्कार का श्रेय अकेली वक्रोक्ति को न देकर 'श्लेष' को भी महत्व प्रदान करते हुए दिखाई देते हैं। दूसरी ओर भामह की तुलना में दंडी स्वभावोक्ति को अलंकार मानते हैं किंतु उसे वक्रोक्ति से भिन्न आद्य अलंकार के रूप में स्वीकार कर उसे शास्त्रीय उक्तियों की प्रयोजक बताकर एक प्रकार से काव्य-जगत् से बहिष्कृत कर देते हैं और स्वभावोक्ति को अनिवार्य न मानकर वांछनीय ही मानते हैं।

वामन की भी गणना एक रूप से अलंकारवादियों में की जाती है। अंतर केवल इतना है कि जहां भामह और दंडी काव्य में अलंकार को कारक धर्म के रूप में स्वीकार करते हैं, वहां वामन अलंकार की शोभा को अतिशयता प्रदान करने वाले एक सहायक तत्व के रूप में प्रतिपादित करते हैं–**काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः तदतिशय- हेतवस्त्वलंकाराः।** अर्थात काव्य का शोभाकारक धर्म गुण है और अलंकार उन्हें अतिशयता प्रदान करते हैं। किंतु एक अन्य स्थल पर वे अलंकार को सौंदर्य का पर्यायवाची बता देते हैं, *यथा–सौंदर्यालंकारः।* साथ ही यह भी कहते हैं कि 'काव्य अलंकार के कारण ही ग्राह्य होता है–'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्'। ये दोनों उक्तियां यदि देखा जाए तो पूर्वोक्त कथन 'तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः' और 'रीतिरात्मा काव्यस्य' के विपरीत सी जान पड़ती है। आधुनिक आलोचक तो सौंदर्य को ही काव्य का प्राण मानते हैं और स्वयं वामन भी यह मानते हैं कि काव्य अलंकार के कारण ही ग्राह्य होता है, तब रीति और गुण के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता है। वामन ने भी संभवतः अपने कथन के विरोधाभास को समझ लिया था। फलतः आगे के सूत्रों में उन्हें अपने कथन में सुधार करना पड़ा कि गुण काव्य का नित्य धर्म है और अलंकार अनित्य धर्म है। फलतः 'गुण' काव्य में सौंदर्य की सृष्टि कर सकता है किंतु अकेला अलंकार काव्य में सौंदर्य की सृष्टि नहीं कर सकता।

कुंतक के अनुसार, काव्य न तो अलंकार है न अलंकार्य, बल्कि दोनों का समन्वित रूप ही काव्य है अर्थात सालंकार काव्य का ही काव्यत्व है। इससे स्पष्ट है कि कुंतक काव्य

में अलंकार के पक्षधर हैं किंतु वे अलंकार को काव्य का शोभाकारक धर्म नहीं मानते। कुंतक ने वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति को पृथक-पृथक मानकर स्वभावोक्ति को अलंकार्य और वक्रोक्ति को अलंकार की संज्ञा से अभिहित किया है। कुंतक का कथन है कि स्वभावोक्ति का अर्थ होता है- स्वभाव ही उक्ति का विषय अथवा वर्ण्य विषय है। यदि वही अलंकार हो जाए तो कौन सी वस्तु रह जाएगी, जो अलंकार्य कहलाएगी अर्थात कुछ नहीं। स्वभाव कथन तो काव्य का शरीर है और यदि वही अलंकार हो जाए तो वह दूसरे को किसको अलंकृत करेगा? कहीं कोई स्वयं अपने कंधे पर भी चढ़ सकता है? इन सबको अधिक स्पष्ट करते हुए कुंतक एक स्थान पर लिखते हैं कि 'अन्य पर्याय शब्दों के रहते हुए भी विवक्षित अर्थ का बोधक केवल एक शब्द ही वस्तुतः शब्द है।' इसी प्रकार सहृदयों के हृदय को आनंदित करने वाला अपने स्वभाव से सुंदर अर्थ ही वास्तव में अर्थ है। ये दोनों (शब्द और अर्थ) ही अलंकार्य होते हैं। वैदग्ध्य-पूर्ण उक्ति रूप वक्रोक्ति ही उन दोनों का अलंकार है।

आचार्य उद्‌भट का नाम भी अलंकारवादी आचार्यों में आता है। इन्होंने भामह के काव्यालंकार की टीका की तथा 'काव्यालंकार सार संग्रह' ग्रंथ की रचना की। इन्होंने गुण और अलंकार को अभिन्न माना। उद्‌भट अलंकार को काव्य का अभिन्न अंग मानकर चलते हैं और उनकी दृष्टि कुंतक की तरह ही 'सालंकारं कांव्यता' को ही मानकर चलती है। दूसरी ओर वे गुण और अलंकार को काव्य में चारूता का द्योतक मानते हैं। वक्रोक्ति को अलंकार के मूल में होने को अपनी स्वीकृति प्रदान कर देते हैं किंतु दूसरी ओर स्वभावोक्ति को भामह की तरह अकाव्य नहीं मानकर उसे एक अलंकार के रूप में मानते हैं किंतु दंडी की तुलना में वे इसके क्षेत्र को सीमित कर देते हैं। भोजराज ने 'अलंकारैरलंकृतम्' का भी प्रतिपादन किया-

निर्दोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन्कीर्तिंप्रीतिं च विन्दति॥

रुद्रट के अनुसार 'वास्तव' अलंकार है और 'वास्तव' अलंकार का यह लक्षण है- 'वास्तव' में वस्तु के स्वरूप का कथन होता है किंतु इसका पुष्टार्थ (रमणीयार्थ) वैपरीत्य, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष आदि पर निर्भर नहीं रहता।' इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि रुद्रट 'वास्तव' अलंकार में अप्रस्तुत विधान को स्वीकार नहीं करते तथा वस्तु के स्वरूप कथन में भी चमत्कार के अभिनिवेश को स्वीकार करते हैं। संभवतः वह वस्तु के प्राकृत सौंदर्य का वाचक है; जैसे-

वास्तवमिति तज्ज्ञेयं क्रियते वस्तु-स्वरूपकथनं यत्।
पुष्टार्थमविपरीतं निरुपममनतिशयम् अश्लेषम्॥

ऐसा प्रतीत होता है कि रुद्रट वस्तु के आकृतिगत प्राकृत सौंदर्य को अधिक महत्व देते हैं। महिम भट्ट के अनुसार चारुत्व ही अलंकार है। यह चारुत्व वैचित्र्य का ही पर्याय है। अतः शब्दार्थ की विच्छिति ही अलंकार है। यहां पर विचारणीय विषय दो हैं-(1) चारूत्व के बिना (वस्तु के अपकर्ष और उत्कर्ष) काव्य आस्वाद्य नहीं होता, किंतु (2) कवि अलंकार की सिद्धि के लिए नहीं अपितु रस या सौंदर्य सिद्धि के लिए काव्य रचना करता है।

अलंकार तो स्वतः ही सौंदर्य सिद्धि के लिए काव्य में प्रविष्ट हो जाते हैं, क्योंकि अलंकार रस के साथ बिना किसी प्रयत्न के ही सिद्ध हो जाते हैं। उपर्युक्त कथनों से यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि महिम भट्ट की दृष्टि से काव्य में अलंकारों की क्या स्थिति है। वे काव्य के अंग हैं या अंगी हैं। इसके साथ-साथ महिम भट्ट ने स्वभावोक्ति को अलंकारत्व प्रदान करने में अलंकार और अलंकार्य के एकत्व को पुष्ट कर दिया है। इससे रस की स्थिति पुनः डावांडोल हो जाती है अथवा यूं कहें कि अलंकार्यत्व के लिए अवसर नहीं रह जाता क्योंकि वे विशिष्ट स्वरूप कथन को स्वभावोक्ति अलंकार मान लेते हैं।

जयदेव की दृष्टि में अलंकार से रहित उक्ति को काव्य मानना वैसा ही है जैसे अग्नि को उष्णता रहित मानना। ये पंक्तियां ही अलंकारों के प्रति जयदेव के अनुराग को स्पष्ट करने में पर्याप्त हैं। जयदेव की दृष्टि में अलंकारों के बिना काव्य का काव्यत्व ही दांव पर लग जाता है और उसके अस्तित्व के लिए खतरा उत्पन्न हो जाता है। मम्मट द्वारा प्रतिपादित काव्य लक्षण–'शब्दार्थावनलंकृती पुनः क्वापि'–का खंडन करते समय जयदेव ने कहा कि जो व्यक्ति अलंकार रहित काव्य को काव्य मानते हैं वे विद्वान अग्नि को भी उष्णता रहित क्यों नहीं मान लेते हैं। इससे स्पष्ट है कि न तो अग्नि उष्णता रहित हो सकती है और न ही काव्य अलंकार रहित हो सकता है–

अंगीकरोतिः यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्माद् अनुष्णमनलंकृती।।

जयदेव की दूसरी मौलिकता इस तथ्य में निहित है कि वे अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति को काव्य का मूल स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार उपमादि अलंकारों में वक्रता की समानता रहते हुए भी प्रत्येक अलंकार में परस्पर अंतर रहता है, जिस प्रकार मुख के उपांगों में समानता रहते हुए भी प्रत्येक व्यक्ति के मुख में विलक्षणता रहती है।

अलंकारवादियों के अतिरिक्त ध्वनिवादी, वक्रोक्तिवादी रीतिवादी आचार्यों ने भी 'अलंकार' पर अपने विचार व्यक्त किए। किसी ने काव्य में इनके महत्व को स्वीकार किया। किसी ने कहा कि काव्य में अलंकार हों तो ठीक है, न हों तो भी ठीक है। काव्य के काव्यत्व में कोई अंतर नहीं आएगा क्योंकि काव्य की आत्मा रस है या काव्य की आत्मा ध्वनि है आदि। कुछ ने ध्वनि, रस, रीति, गुण आदि को भी काव्य के लिए अलंकार माना। किसी ने अलंकारों को रस का सहायक माना, किसी ने रस का आश्रित माना। किसी ने इन्हें रस के उन्मीलक तत्व के रूप में स्वीकार किया तो किसी ने कहा कि ये काव्य की आकर्षण शक्ति बढ़ाते हैं। भावों के स्पष्टीकरण के लिए भी किसी ने इन्हें आवश्यक माना किंतु अंततः भाव ही रस है ऐसा मानते हुए बात अपनी जगह लौट आई। अपनी-अपनी मान्यताओं, विचारों, दृष्टिकोण के अनुरूप अलंकार सिद्धांत की प्रतिष्ठा बनी रही। यह प्रासंगिकता नई कविता तक निरंतर जारी है।

3.3.3 शब्दालंकार एवं अर्थालंकार

काव्यशास्त्र के क्षेत्र में अलंकारों का सर्वप्रथम विवेचन हमें भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में उपलब्ध होता है। भरत ने अपने ग्रंथ में 'उपमा, रूपक, दीपक एवं यमक' इन चार अलंकारों का

उल्लेख किया है। उपमा के पांच भेदों का उल्लेख भी भरत ने किया है तथा 'अन्य भेद भी हो सकते हैं' का संकेत भी दिया है। 'यमक' के भी अनेक भेदों का उल्लेख मिलता है।

भरत के पश्चात भामह और दंडी ने अनेक अलंकारों को चिह्नित किया तथा उनके लक्षणों एवं उदाहरणों का विस्तार से विवेचन किया। इन्होंने अलंकारों की संख्या को चालीस तक पहुंचा दिया। इतना ही नहीं दंडी ने यमक के तीन सौ पंद्रह भेदों का भी उल्लेख किया है तथा उपमा के बत्तीस भेद बताए हैं। भामह की तुलना में दंडी ने अर्थालंकारों का विस्तार से विवेचन किया था। दोनों ही आचार्य अलंकार के दो भेद–(1) शब्दालंकार और (2) अर्थालंकार – प्रस्तुत कर चुके हैं। इनके पश्चात उद्भट ने सर्वप्रथम अलंकारों का वर्ग विभाजन किया। इन्होंने 'इकतालीस' अलंकारों का विवेचन किया है। रीतिवादी वामन ने केवल बत्तीस अलंकारों का विवेचन किया है।

अलंकारवादियों में सर्वप्रथम 'रुद्रट' ने अलंकारों का साधारण वर्गीकरण करने का प्रयास किया है। शब्दालंकार एवं अर्थालंकार। रुद्रट ने लगभग छियासठ अर्थालंकारों एवं पांच शब्दालंकारों का विवेचन अपने ग्रंथ में किया है। रुद्रट के पश्चात मम्मट के अलंकार विवेचन को काव्यशास्त्र में अत्यधिक महत्व दिया जाता है। इन्होंने छह शब्दालंकारों और इकसठ अर्थालंकारों का विवेचन किया है।

रुय्यक के अनुसार अलंकारों का वर्गीकरण इस प्रकार है–(1) शब्दालंकार, (2) अर्थालंकार।

(1) **शब्दालंकार**–शब्दालंकार वहां होते हैं, जहां कथन का चमत्कार उसमें प्रयुक्त शब्दों की आवृत्ति पर निर्भर करता है। यदि उक्ति में से संबद्ध शब्दों को हटाकर उनके पर्यायवाची शब्द उक्ति में रख दिए जाएं तो उक्ति का वह चमत्कार भी समाप्त हो जाता है। अतः शब्द पर ही आधारित होने के कारण इन्हें शब्दालंकार कहा जाता है। इनमें प्रमुख अलंकार हैं–अनुप्रास, यमक, पुनरुक्तवदाभास, श्लेष, वक्रोक्ति आदि।

(2) **अर्थालंकार**–अर्थालंकार वहां होते हैं, जहां अलंकार का सौंदर्य शब्द पर निर्भर न कर उसके अर्थ पर निर्भर करता है। किसी शब्द के स्थान पर उसके पर्यायवाची शब्द का प्रयोग कर दिए जाने पर भी उसका अलंकारत्व यथावत् बना रहता है। अतः ऐसे अलंकारों को अर्थालंकार की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। इन अलंकारों को निम्नलिखित पांच वर्गों में विभाजित किया गया है–

- **सादृश्यमूलक अर्थालंकार**–इस वर्ग में वे अलंकार आते हैं जिनमें सादृश्य न होने पर प्रस्तुत और अप्रस्तुत के सादृश्य का निरूपण किया जाता है।
- **विरोधमूलक अर्थालंकार**–जहां प्रस्तुत और अप्रस्तुत में विरोध का चमत्कार पूर्ण कथन होता है वहां विरोधमूलक अलंकार होते हैं। इसमें विरोध कवि कल्पित होता है, वास्तविक विरोध नहीं होता। ऐसी उक्तियों में विरोध प्रतीत होते ही शांत हो जाता है और विरोध की शांति ही उक्ति का चमत्कार होता है। यह दृश्य ठीक इस प्रकार का होता है जैसे कि बादलों में क्षण भर को चमक कर बिजली छिप जाती है। जिस प्रकार बिजली की क्षणिक चमक दर्शकों को

चमत्कृत कर देती है, उसी प्रकार अप्रस्तुत का क्षणिक विरोध काव्य रसिकों को चमत्कृत कर देता है।

- **शृंखलामूलक अर्थालंकार**—शृंखलामूलक अलंकारों की योजना वहां होती है, जहां प्रत्येक पद शृंखला की तरह परस्पर-जुड़े रहते हैं। यह संबंध कभी कार्य-कारण भाव का होता है, कभी विशेषण-विशेष्य का तो कभी यह उत्कर्षापकर्ष भाव का होता है।

- **न्यायमूलक अर्थालंकार**—न्यायमूलक अलंकारों की अवस्थिति वहां पर होती है जहां पर उक्ति किसी लौकिक न्याय या वाक्य न्याय पर आधारित होती है। कहीं-कहीं तर्क के आधार पर न्याय का दिग्दर्शन कराया जाता है। काव्य लिंग, अलंकार इसी न्याय का प्रतिपादन करता है।

  कनक-कनक से सौ गुनी माद्कता अधिकाय
  इक खाए बौरात हैं इक पावत बौराय॥

  इस स्वर्ण में धतूरे से अधिक मादकता होती है। यहां प्रस्तुत अर्थ को तर्कन्याय से सिद्ध करने का प्रयास किया है कि उसके खाने से नशा आता है किंतु इसके पाने मात्र से नशा आ जाता है। इसी प्रकार अन्य न्यायों को भी समझना चाहिए।

- **गूढ़ार्थ प्रतीतिमूलक अर्थालंकार**—गूढ़ार्थ प्रतीतिमूलक अलंकार वहां होते हैं, जहां अप्रस्तुत विधान के कारण संपूर्ण उक्ति से किसी अन्य अर्थ की रमणीय व्यंजना होती है। जहां प्रस्तुत अर्थ का अन्य अर्थ में न्यास होता है तथा व्यंग्यार्थ सदैव प्रतीयमान रहता है, वहां गूढ़ार्थ प्रतीतिमूलक अलंकार ही माना जाना चाहिए।

पंडितराज जगन्नाथ ने अर्थालंकार को तीन वर्गों में विभाजित कर सादृश्यमूलक अलंकारों को पुनः दो वर्गों में विभाजित किया है—(1) जहां पर सादृश्य स्पष्ट एवं स्फुट होता है वहां पर स्फुट सादृश्यमूलक अलंकार होता है, जैसे—उपमा, रूपकादि। (2) जहां पर सादृश्य अस्फुट रहता है वहां पर अस्फुट सादृश्य मूलक अलंकार होते हैं, जैसे— दीपक, तुल्य, योगिता आदि।

3.3.4 अनुप्रास, यमक, श्लेष, वक्रोक्ति, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा तथा संदेह अलंकारों के लक्षण तथा उदाहरण

(1) अनुप्रास अलंकार

अनुप्रास का अर्थ होता है बारंबार निकट रखना अर्थात वर्णों का बार-बार प्रयोग। अलंकार रूप में अनुप्रास की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि वर्णों की रसानुकूल बार-बार आवृत्ति करना ही अनुप्रास अलंकार होता है। विश्वनाथ ने इसके पांच प्रमुख भेदों का उल्लेख किया है— (1) छेकानुप्रास, (2) वृत्यनुप्रास, (3) श्रुत्यनुप्रास, (4) अंत्यानुप्रास और (5) लाटानुप्रास।

- **छेकानुप्रास**—जहां पर अनेक व्यंजनों की एक बार स्पष्टतः एवं क्रमशः आवृत्ति की गई हो, वहां छेकानुप्रास अलंकार होता है। इसे छेकानुप्रास इसलिए कहते हैं कि संभवतः अनुप्रास की

यह योजना छेक अर्थात विदग्ध जनों को अधिक प्रिय थी। अतः कवियों ने इस अलंकार के पर्याप्त प्रयोग किए हैं। जैसे–

बंदौ गुरु पद पदुम परागा। सुरुचि सुवास सरस अनुरागा। *(मानस)*

यहां प, सु, स, आदि अनेक व्यंजनों की एक-एक बार आवृत्ति की गई है।

● **वृत्यनुप्रास**–जहां पर वर्णों की अथवा वर्ण की अनेक बार आवृत्ति की गई हो वहां पर वृत्यानुप्रास अलंकार होता है। जैसे–

'कंकन किंकनी नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि।। *(मानस)*

न, नी, नि की आवृत्ति है।

● **श्रुत्यनुप्रास**–जहां पर एक ही उच्चारण स्थान से उच्चरित होने वाले व्यंजनों में समानता पाई जाती है, वहां पर श्रुत्यनुप्रास अलंकार होता है। जैसे–

जाहि जन पर ममता अति छोहू। जेहि करुण करि कीन्ह न कोहू।। *(मानस)*

यहां 'ह' की चार बार और 'क' की तीन बार आवृत्ति की गई है। दोनों वर्णों का एक कंठ ही उच्चारण स्थान है अतः श्रुत्यनुप्रास होगा।

● **अंत्यानुप्रास**–जहां पर पद या पद के अंत में सभी पदों में समान स्वर और व्यंजन की आवृत्ति की जाती है, वहां अंत्यानुप्रास अलंकार होता है। हिंदी भाषा में ऐसे पद्यों को तुकांत कविता या तुकांत पद कहते हैं। यह आवृत्ति क्योंकि पद के अंत में होती है, इसलिए इसे अंत्यानुप्रास कहते हैं। जैसे–

धीरज धरम मित्र अरु नारी। आपत्ति काल परखिए चारी। *(मानस)*

दोनों अर्धाली में 'री' की आवृत्ति है।

● **लाटानुप्रास**–जहां शब्द और अर्थ की समान रूप से आवृत्ति की जाती है किंतु अन्वय करने पर उनके अभिप्राय में भिन्नता आ जाती हो वहां लाटानुप्रास अलंकार होता है। जैसे–

पूत कपूत तो का धन संचै। पूत सपूत तो का धन संचै।।

'धन संचय' का रूप एवं अर्थ दोनों बार समान है किंतु तात्पर्य बदल गया है।

(2) यमक अलंकार

जहां सार्थक किंतु भिन्नार्थक या निरर्थक वर्ण-समुदाय की एक से अधिक बार आवृत्ति की जाती है वहां पर यमक अलंकार होता है। जैसे–

कनक-कनक तें सौ गुनी मादकता अधिकाय।
या खाए बौरात जग, वा पाये बौराय।।

अर्थात एक ही शब्द की बार-बार आवृत्ति होती है किंतु हर बार अर्थ अलग होता है। *(बिहारी)*
जैसे–कनक का अर्थ – सोना और धतूरा दोनों हैं।

(3) श्लेष अलंकार

श्लेष अलंकार दो प्रकार का होता है–शब्द श्लेष और अर्थ श्लेष।

● **शब्द श्लेष**–शब्द श्लेष अलंकार वहां होता है, जहां अलंकार का सौंदर्य शब्द विशेष पर आधारित होता है। यदि उस शब्द के स्थान पर कोई दूसरा उसका पर्यायवाची शब्द रख दिया

जाए तो श्लेष अलंकार वहां पर नहीं रहेगा। शब्द श्लेष के दो भेद होते हैं–(1) अभंग श्लेष और (2) सभंग श्लेष। अभंग श्लेष में तो प्रयुक्त शब्द ही एक से अधिक अर्थों का द्योतन कराने की क्षमता रखता है। जैसे–

तुम्हारा पी मुख वास तरंग आज बौरे भौंरे सहकार।

उपर्युक्त पंक्ति में बौरे शब्द में श्लेष है। इसके दो अर्थ हैं–(1) फूल आना या बौर आना (2) मस्त होना। सहकार अर्थात आम वृक्ष के प्रसंग में पुष्पित होना और भौरे के प्रसंग में मस्त होना अर्थ लिए जाएंगे। यहां पर एक ही शब्द दोनों अर्थ दे रहा है। अतः यहां पर अभंग श्लेष अलंकार है। यदि हम 'बौरे' शब्द के स्थान पर 'मंजरी' या 'मद' जैसे पर्यायवाची शब्दों का 'बौरे' शब्द के स्थान पर प्रयोग कर दें तो श्लेष अलंकार नहीं रहेगा। अतः यह शब्द श्लेष है।

जहां तक सभंग श्लेष का प्रश्न है, वहां पर शब्द का खंड करने पर दूसरा अर्थ निकलता है तथा शब्द के तोड़ने या भंग करने से दूसरा अर्थ निकलता है, इसलिए इसे सभंग श्लेष कहते हैं। जैसे–

चिर जीवौ जोरी जुरै क्यों न स्नेह गंभीर।
को घटि वह वृषभानुजा ए हलधर के वीर।। *(बिहारी)*

उपर्युक्त दोहे में 'वृषभानुजा' और 'हलधर' शब्दों में श्लेष अलंकार है। वृषभानुजा का अर्थ है 'राधा जी' और 'हलधर के वीर' का अर्थ है बलदेव जी के भाई अर्थात कृष्ण जी। दोनों का प्रेम गंभीर क्यों न हो, क्योंकि दोनों में कोई भी कम नहीं है। इन दोनों शब्दों में वृषभानु + जा (वृषभानु की पुत्री) का अर्थ है 'राधा' किंतु 'वृषभ + अनुजा' (संधि विच्छेद करने पर) का अर्थ है बैल की छोटी बहिन अर्थात गाय। 'हल + धर' का अर्थ हो जाएगा 'बैल' और इस प्रकार 'हलधर के वीर' का अर्थ हुआ 'बैल का भाई अर्थात सांड'। इन पंक्तियों में प्रथम पंक्ति में ही संधि-विच्छेद से दूसरा अर्थ आने से वह सभंग श्लेष का उदाहरण हुआ।

● **अर्थ श्लेष**–अर्थ श्लेष अलंकार वहां होता है जहां पर अर्थ में अलंकारत्व रहता है। यदि संबद्ध शब्द के स्थान पर उसका कोई भी पर्यायवाची शब्द रख दें तब भी श्लेष का सौंदर्य बना रहे वहां पर अर्थ श्लेष अलंकार रहता है। जैसे–'साधु चरित सुभ सरिस कपासू। निरस विसद गुनमय फल जासू।' इस चौपाई में 'नीरस, विशद और गुणमय' तीन एकार्थक शब्दों का प्रयोग किया गया है जो साधु और कपास दोनों के प्रसंग में अपना अर्थ देते हैं जैसे कपास रुखी, उजले धागे वाली होती है और साधुओं का चरित्र (विषय रस से) सूखा, निर्मल गुण वाला होता है। इस चौपाई में 'नीरस और विसद' शब्दों 'गुणमय' का प्रयोग किया जाता है। पर्यायवाची (रसहीन, विस्तृत) रख देने पर श्लेष की सत्ता बनी रहने से अर्थ प्राबल्य सिद्ध होता है। अतः यहां अर्थ श्लेष अलंकार है।

(4) वक्रोक्ति अलंकार

किसी एक अभिप्राय वाले अभिव्यक्त वाक्य का, किसी अन्य द्वारा (श्लेष अथवा काकु से) अन्य अर्थ लिए जाने को वक्रोक्ति अलंकार कहते हैं। वक्रोक्ति अलंकार का नियोजन एक जटिल कर्म है। यही कारण है कि कवियों ने इसका प्रयोग कम ही किया है।

उक्त पद्य में मन की तुलना पीपल के पत्ते के साथ की गई है इसलिए इसमें 'मन' उपमेय है और 'पीपर पात' उपमान। दोनों के चांचल्य को 'डोला' शब्द के द्वारा व्यक्त किया गया है जो इनमें पाए जाने वाले समान धर्म को भी व्यक्त करता है अतः वह समान धर्म है। 'सरिस' शब्द क्योंकि समानता को व्यक्त कर रहा है इसलिए यह वाचक शब्द है।

● **लुप्तोपमा**—जहां पर उपमा के उक्त चारों अंगों में से जब किसी एक अंग का वर्णन शब्द के द्वारा कथित नहीं होता, वहां लुप्तोपमा अलंकार होता है। इस दृष्टि से लुप्तोपमा के चार भेद हो जाते हैं—

(1) उपमेय लुप्तोपमा, (2) उपमान लुप्तोपमा, (3) समान धर्म लुप्तोपमा और (4) वाचक शब्द लुप्तोपमा। कभी-कभी एक ही पद से दो-दो अंगों का लोप भी कर दिया जाता है, उदाहरण—'कोटि कुलश सम वचन तुम्हारा'। यह पद समान धर्म लुप्तोपमा का उदाहरण है। इसमें वचन उपमेय कुलिश उपमान और 'सम' वाचक शब्द का कथन तो है ही किंतु 'कठोर' का समान धर्म का कथन नहीं किया गया है। अतः समान धर्म का कथन न होने के कारण यह समान धर्म लुप्तोपमा है।

● **मालोपमा**—जहां एक उपमेय की अनेक उपमानों के साथ समानता का वर्णन किया जाता है वहां मालोपमा अलंकार होता है। उदाहरण—जिय बिनु देह, नदी बिनु बारी, तैसे ही नाथ! पुरुष बिनु नारी।

(6) रूपक अलंकार

जहां उपमेय का कथन कर उसका उपमान के साथ अभेद आरोपित किया गया हो, वहां पर रूपक अलंकार होता है। रूपक अलंकार में उपमेय पर उपमान का आरोप कर दिया जाता है अर्थात उपमेय को ही उपमान बता दिया जाता है या समझ लिया जाता है। जैसे—मुख चांद है। इस वाक्य में मुख को चांद बता दिया गया है। रूपक अलंकार के तीन भेद होते हैं—(1) निरंग रूपक, (2) सांग रूपक, (3) परंपरित रूपक।

● **निरंग रूपक**—जहां केवल उपमेय में उपमान का आरोप किया जाता है, वहां निरंग रूपक अलंकार होता है। प्रत्येक वस्तु मूल होती है और उसके अंग भी होते हैं। मूल वस्तु को 'अंगी' कहा जाता है। 'निरंग' शब्द का अर्थ ही होता है 'अंग रहित'। कुछ विद्वान इसे निरवयव रूपक भी कहते हैं। जैसे—

विधु वदनी सब भांति संवारी। सोह न वसन बिना वर नारी।

● **सांग रूपक**—जहां पर उपमेय के सभी अंगों अथवा अवयवों पर उपमान के सभी अंगों या अवयवों का आरोप वर्णित हो, वहां पर सांग रूपक अलंकार होता है। इस अलंकार-रूप में अंगों सहित अंगी उपमेय पर अंगों सहित अंगी उपमान का आरोप किया जाता है। इसमें अनेक आरोप वर्णित होते हैं, जैसे—

बीती विभावरी जाग री,
अंबर पनघट में डुबो रही।
तारा-घट ऊषा-नागरी।

इन पंक्तियों में अंबर में पनघट का, तारे में घट का और ऊषा में सुंदरी का आरोप किया गया है। यहां पर प्रातःकाल के आकाश, तारा और ऊषा का कुएं के पनघट, घट और

नागरी पर आरोप कर रात्रि के बीतने और प्रात:काल के आगमन का वर्णन किया गया है। अत: समस्त अंगों पर आरोप कथित होने से यहां पर सांग रूपक अलंकार है। सांग रूपक के पुन: दो भेद किए जाते हैं–(1) समस्त वस्तु विषय और (2) एकदेशविवर्ति।

(1) समस्त वस्तु विषय सांग रूपक अलंकार वहां होता है, जहां पर उपमेय और उपमान के समस्त अंगों का शब्दों के द्वारा कथन हो और (2) एकदेशविवर्ति सांग रूपक अलंकार वहां होता है, जहां पर कुछ अंगों का तो शब्द द्वारा कथन कर दिया जाता है और कुछ का आक्षेप से या प्रसंग से ग्रहण किया जाता है।

● **परंपरित रूपक**–जहां पर एक आरोप दूसरे आरोप का कारण होता है, वहां पर परम्परित रूपक अलंकार होता है। परंपरित का अर्थ होता है परंपरा या क्रम। इस प्रसंग में कम से कम दो आरोप होते हैं जिनमें एक आरोप कारण होता है और दूसरा कार्य। कहने का तात्पर्य यह है कि एक आरोप कर देने के पश्चात दूसरे आरोप का निरूपण करना आवश्यक हो जाता है। जैसे–

राम कथा सुंदर करतारी। संशय बिहग उड़ावन हारी। *(मानस)*

उपर्युक्त चौपाई में रामकथा पर करताल (तालियों) का आरोप किया गया है और संशय पर पक्षी का आरोप किया गया है। यहां पर 'संशय-विहग' आरोप कार्य है और 'रामकथा-करतारी आरोप' कारण है। अत: कार्य-कारण की परंपरा का चित्रण होने के कारण यहां पर परंपरित रूपक अलंकार है।

परंपरित रूपक अलंकार दो प्रकार का होता है–(1) श्लिष्ट परंपरित रूपक और (2) अश्लिष्ट परंपरित रूपक अलंकार।

(7) उत्प्रेक्षा अलंकार

जहां प्रस्तुत वस्तु में अप्रस्तुत वस्तु की संभावना अर्थात उत्कृष्ट कल्पना का वर्णन हो, वहां पर उत्प्रेक्षा अलंकार होता है। उत्प्रेक्षा का व्युत्पत्तिपरक अर्थ होता है– किसी वस्तु को उत्कट या प्रकृष्ट रूप से देखना। इसमें जनु, मानों, मनु, इव आदि वाचक शब्दों का प्रयोग किया जाता है। इसके पहले दो भेद किए जाते हैं–(1) वाच्या और (2) प्रतीयमान।

वाच्या में वाचक शब्दों का प्रयोग आवश्यक होता है जबकि प्रतीयमान में व्यंग्य की प्रधानता रहने के कारण वाचक शब्दों का अभाव पाया जाता है। वाच्योत्प्रेक्षा के पुन: तीन भेद किए जाते हैं–(1) वस्तूत्प्रेक्षा, (2) हेतूत्प्रेक्षा और (3) फलोत्प्रेक्षा। उदाहरण–

पंथ जात सोहहिं मति धीरा। ज्ञान भक्ति जनु धरे सरीरा। *(मानस)*

(8) संदेह अलंकार

जहां किसी वस्तु के संबंध में अनेक वस्तुओं का संदेह हो और सादृश्य के कारण अनिश्चय बना रहे, वहां संदेह अलंकार होता है। प्राचीन काव्य में यह संदेह किंवा, धौं, किधौं आदि तथा खड़ी बोली के काव्य में कि, क्या या तथा अथवा आदि शब्दों द्वारा किया जाता है। उदाहरण के लिए–

मद भरे ये नलिन नयन मलीन हैं,
अल्प जल में या विकल लघु मीन है।

यहां 'नयन' के विषय में 'मीन' का संदेह होता है। 'या' संदेहवाचक शब्द का प्रयोग हुआ है।

अन्य प्रमुख अलंकार

(1) उपमेयोपमा अलंकार—जहां पर उपमेय और उपमान परस्पर एक दूसरे के उपमेय और उपमान बन जाते हैं, वहां उपमेयोमपा अलंकार होता है। वस्तुत: यहां पूर्व कथित उपमेय उत्तर कथन में उपमान और पूर्व कथित उपमान उत्तर कथन में उपमेय बन जाता है अर्थात लेखक की दृष्टि में उन दोनों के अतिरिक्त उनकी समता के लिए कोई तीसरी वस्तु नहीं होती, जैसे—'वे तुम सम तुम उन सम स्वामी।' उक्त पद के पूर्व कथन में वे उपमेय हैं और तुम उपमान किंतु उत्तर कथन में तुम उपमेय बन जाता है और 'उन' उपमान बन जाता है। इस कारण यह उपमेयोपमा अलंकार है। अन्य उदाहरण—राम के समान, शंभू, शंभू सम राम है।

(2) अनन्वय अलंकार—अनन्वय अलंकार वहां होता है, जहां उपमेय को ही उपमान के रूप में प्रस्तुत किया जाए। इसका तात्पर्य यह है कि रचनाकार कार्य विषय की उत्कृष्टता सिद्ध करने के लिए यह बताना चाहता है कि विश्व में दूसरी ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो उस वस्तु की समता कर सके। इसलिए उपमेय को ही उपमान बना दिया जाता है। उदाहरण—

'उपमान विहीन रचा विधि ने, बस भारत के सम भारत है।'

उक्त पद्य में भारत की उत्कृष्टता सिद्ध करने के लिए कवि ने भारत उपमेय के लिए भारत उपमान का ही वर्णन किया है अत: यहां अनन्वय अलंकार है। अन्य उदाहरण—

'सुंदर नंदकिशोर से, सुंदर नंदकिशोर।'

(3) उदाहरण अलंकार—जहां पहले किसी सामान्य बात का कथन किया जाए और फिर उसे स्पष्ट करने के लिए उसी सामान्य के एक अंश विशेष का वाचक शब्दों के द्वारा निरूपण कर उनका अवयवावयवी भाव प्रकट किया जाए वहां उदाहरण अलंकार होता है। इसमें उपमेय वाक्य प्रधान होता है—

नीकी पै फीकी लगै, बिन अवसर की बात।
जैसे वर्णन युद्ध में, रस शृंगार न सुहात।।

(4) प्रतीप अलंकार—'प्रतीप' का अर्थ होता है विपरीत। इसका अर्थ यह हुआ कि यह अलंकार उपमा से विपरीत अर्थात् उलटा होता है। अत: इसको इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है कि जहां प्रसिद्ध उपमान का उपमेय की तुलना में अपकर्ष दिखाया जाता है वहां प्रतीप अलंकार होता है। उदाहरण—उस तपस्वी से लंबे ये देवदारू दो चार खड़े।—*कामयानी*

(5) व्यतिरेक अलंकार—जहां गुणाधिक्य के कारण उपमान की तुलना में उपमेय का उत्कर्ष वर्णित होता है, वहां व्यतिरेक अलंकार होता है। व्यतिरेक का अर्थ होता है उत्कर्ष या आधिक्य। अत: इस अलंकार के माध्यम से उपमेय का उत्कर्ष प्रदर्शित किया जाता है। जैसे—

सिय मुख सरद कमल जिमि किमि कहि जाय।
निसि मलिन वह, निसि-दिन यह विगसाय।। *(बरवै रामायण)*

(6) स्मरण अलंकार—जहां पहले से देखी हुई या अनुभव की हुई वस्तु का उसी के सदृश किसी अन्य वस्तु को देखकर या अनुभव कर, स्मरण हो आने का वर्णन हो, वहां स्मरण

अलंकार होता है। जैसे– भएउ कोलाहलु नगर मंझारी
आवा कपि लंका जेहि जारी।।

(7) असम अलंकार–जहां उपमेय के समान किसी उपमान के निषेध का वर्णन हो, वहां असम अलंकार होता है। 'असम' का अर्थ होता है जिसके समान कोई अन्य न हो। जैसे–

फलराज रसाल समान कहीं।
फल और मनोहर एक नहीं।।

(8) उल्लेख अलंकार–जहां एक वस्तु को अनेक प्रकार से वर्णित किया जाए, वहां उल्लेख अलंकार होता है। इसके दो भेद होते हैं–1. प्रथम उल्लेख, 2. द्वितीय उल्लेख।

प्रथम उल्लेख–जहां एक ही वस्तु अनेक व्यक्तियों द्वारा भिन्न-भिन्न दृष्टि से देखी जाए अथवा वर्णित की जाए वहां प्रथम उल्लेख होता है; जैसे

गज रक्षक वृद्धान ने, युवतिन ने श्रीकांत।
असुर-तियन हरि लखे, रिसियाने नरकांत।।

जिस समय श्रीकृष्ण मथुरा में प्रविष्ट हुए तो वृद्ध नारियों ने उन्हें गज का उद्धार करने वाला, युवतियों ने लक्ष्मीकांत, असुरपत्नियों ने साक्षात विष्णु समझा जिन्होंने सक्रोध नरकासुर का वध किया। अत: यहां श्रीकृष्ण का विभिन्न दृष्टियों से वर्णन होने के कारण प्रथम उल्लेख है।

द्वितीय उल्लेख–जहां पर एक वस्तु एक व्यक्ति द्वारा विभिन्न दृष्टि से देखी जाए अथवा वर्णित हो, वहां द्वितीय उल्लेख होता है; जैसे–

तू रूप है किरन में, सौंदर्य है सुमन में।
तू प्रण है पवन में, विस्तार है गगन में।।

यहां कवि ने ईश्वर का विभिन्न दृष्टियों से अनेक रूपों में उल्लेख किया है, अत: यहां द्वितीय उल्लेख है।

(9) अपह्नुति अलंकार–जहां उपमेय को नकार कर उपमान का आरोप किया जाए वहां अपह्नुति अलंकार होता है। इसके छ: भेद हैं–

शुद्धापह्नुति–इसमें वास्तविक उपमेय का निषेध करके उपमान का आरोपण किया जाता है; जैसे–वे दो ओठ न थे, राधे, था एक फटा उर तेरा।

यहां ओठों का निषेध करके उर का आरोप किया गया है।

हेत्वपह्नुति–जहां उपमेय के निषेध के कारण बताते हुए उपमान की स्थापना हो–

अभी उम्र कुल तेइस की थी, मनुज नहीं अवतारी थी।
हमको जीवित करने आई, बन स्वतंत्रता नारी थी।

यहां लक्ष्मीबाई में मनुजत्व का निषेध करके उसके अवतारी होने की स्थापना की गई है। दूसरी पंक्ति में कारण देने से यह हेत्वपह्नुति है।

पर्यस्तापह्नुति–इसमें किसी वस्तु के धर्म का निषेध दूसरी वस्तु में उसके आरोप के लिए किया जाता है–

तेरे ही भुजनि पर भूतल को भार,
कहिबे को सेसनाग दिगनाग हिमाचल है।

यहां सेसनाग, दिगनाग का निषेध कर उसका आरोप भुजबल पर किया गया है।

भ्रांतापह्नुति—इसमें सत्य बात प्रकट करके किसी के भ्रम को दूर किया जाता है—

आनन हैं, अरविंद न फूले, अलिंगन भूलैं कहा मंडरात हौ।
बोलती बाल, न बाजती बीन कहा सिगरे मृग घेरति जात हौ।।

यहां भ्रांति कवि-कल्पित है।

छेकापह्नुति—इसमें सत्य को छिपाकर असत्य के द्वारा भ्रांति दूर करने का प्रयास होता है—

आँखें अति सीतल भईं, दीन्हों ताप निहारि।
क्यों सखि पीतम को लखै, ना सखि, ससिहिं निहारि।।

यहां एक सखी अन्य सखी के भाव से अनजान है और प्रियतम दर्शन की बात पूछती है किंतु वह एकदम बात बदलकर चंद्रिका की बात करने को कहती है।

कैतवापह्नुति—जिसमें उपमेय का स्पष्ट निषेध न करके मिस, ब्याज, छल आदि शब्दों से निषेध किया जाए—

यों लछिराम छटा नख नौल तरंगनि गंग प्रभा फल पेनी।
मैथिली के चरनांबुज ब्याज लसै मिथिला जग मंजु त्रिवेनी।।

यहां 'चरणोदक' का निषेध 'ब्याज' से किया गया है।

(10) भ्रम या भ्रांतिमान अलंकार—भ्रम का अर्थ होता है मिथ्या ज्ञान। जहां पर किसी सदृश वस्तु में अर्थात उपमेय में अन्य वस्तु अर्थात उपमान के सुंदर कल्पित मिथ्या ज्ञान का वर्णन होता है, वहां पर भ्रम, भ्रांति या भ्रांतिमान अलंकार होता है। उदाहरण—

पाय महावर देन को नाइन बैठी आय।
फिरि-फिरि जानि महावरी, एडी मीड़त जाय।। —*बिहारी*

यहां नाइन ने भ्रमवश एड़ी की लाली के कारण एड़ी को ही महावर समझ लिया।

(11) अतिशयोक्ति अलंकार—'अतिशयोक्ति' का अर्थ है उक्ति की अतिशयता अर्थात किसी कथन को सामान्य रूप में प्रस्तुत न कर उसे बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत किया जाए वहां पर अतिशयोक्ति अलंकार होता है। इसके प्रमुख छह भेद किए हैं—

(1) रूपकातिशयोक्ति, (2) भेदकातिशयोक्ति, (3) संबंधातिशयोक्ति, (4) अक्रमातिशयोक्ति, (5) चपलातिशयोक्ति और (6) अत्यंतातिशयोक्ति।

- **रूपकातिशयोक्ति**—'देखो दो-दो मेघ बरसते, मैं प्यासी की प्यासी'—यहां दो मेघों के उपमान में दो आंखें उपमेय हुई हैं। उपमेय का उपमान में अध्यवसान हो जाने के कारण यहां रूपकातिशयोक्ति है।

● **भेदकातिशयोक्ति**–जहां भेद न रहते हुए भी उपमेय में चमत्कार लाने के लिए अन्य, और अनियार जैसे शब्दों का प्रयोग कर भेद स्थापित किया जाए वहां यह अलंकार होता है–

सुनहुं सखा कह कृपानिधाना।
जेहि जय होई सो स्यंदन आना।।

● **संबंधातिशयोक्ति**–जहां पर संबंधों में असंबंध और असंबंधों में संबंध का वर्णन हो वहां पर यह अलंकार होता है।

'जो संपदा नीच गृह सोहा।
सो विलोकि सुरनायक मोहा।' *–मानस*

● **अक्रमातिशयोक्ति**–जहां क्रम नहीं होता और क्रम का त्याग कर कवि कार्य-कारण का अत्यधिक वर्णन करता है वहां यह होता है–

'संधानेउ प्रभु बिसिख कराला।
उठी उदधि उर अंतर ज्वाला।। *–मानस*

● **चलातिशयोक्ति**–जहां कारण को देखते ही कार्य की संपन्नता का वर्णन किया जाए वहां यह अलंकार होता है–

'तब सिव तीसर नयन उघारा।
चितवत काम भयउ जरि छारा। *–मानस*

● **अत्यंतातिशयोक्ति**–इसमें कारण के पहले ही कार्य संपन्न हो जाता है। जैसे– **हनुमान की पूंछ में लगन न पाई आग, लंका सिगरी जल गई गए निसाचर भाग।**

(12) दीपक अलंकार–जहां उपमेय और उपमान दोनों का एक धर्म के साथ संबंध दिखा कर वर्णन किया जाता है वहां पर दीपक अलंकार होता है। जैसे–

सेवक सठ नृप कृपन कुनारी।
कपटी मित्र सूल-सम चारी।। *(मानस)*

(13) प्रतिवस्तुपमा अलंकार–जहां एक वाक्यार्थ का दूसरे वाक्यार्थ के साथ बिना वाचक शब्द के सादृश्य का वर्णन हो तथा एक ही समान धर्म का पृथक-पृथक शब्दों के द्वारा कथन हो वहां प्रतिवस्तुपमा अलंकार होता है। प्रतिवस्तुपमा का अर्थ होता है–'प्रतिवस्तु' अर्थात प्रत्येक वाक्य के अर्थ में उपमा का समावेश किया गया हो। इस अलंकार में दो वाक्य होते हैं– (1) उपमेय वाक्य और (2) उपमान वाक्य। दोनों वाक्यों का एक ही समान धर्म होता है। (3) समान धर्म का कथन पृथक-पृथक शब्दों द्वारा किया जाता है और (4) इसमें सादृश्य, साधर्म्य के द्वारा ही नहीं अपितु वैधर्म्य के द्वारा भी निरूपित होता है। उदाहरण–

सठ सुधरहिं सत्संगति पाई।
परस-परस कुधात सुहाई।। *(मानस)*

(14) दृष्टांत अलंकार–जहां दो वाक्यार्थों में आए उपमेय और उपमान के समान धर्मों में बिंब- प्रतिबिंब भाव संबंध हो, वहां दृष्टांत अलंकार होता है। उपमेय वाक्य में एक सामान्य बात कही जाती है किंतु उपमान वाक्य में कोई उससे मिलता-जुलता दृष्टांत प्रस्तुत किया जाता है जो उपमेय वाक्य के कथन की पुष्टि करता है। दृष्टांत यानी–उदाहरण–

करत-करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जात ते, सिल पर परत निसान।। *(वृंद)*

(15) निदर्शना अलंकार—दो वाक्यों में परस्पर संभव और असंभव संबंध होने पर भी उपमा के द्वारा उनमें संबंध की कल्पना करना निदर्शना अलंकार होता है। निदर्शना का अर्थ भी दृष्टांत होता है किंतु इसमें निश्चित रूप से सादृश्य का अभिव्यंजन किया जाता है। उसमें संभव की अभिव्यक्ति की जाती है। उदाहरण—

सो धनु राज कुंअर कर देहीं।
बाल मराल कि मंदर लेहीं।। *—मानस*

फल की समानता के कारण असंभव संबंध स्थापित किया गया है।

(16) समासोक्ति अलंकार—जहां कवि के प्रस्तुत अर्थ के अतिरिक्त श्लिष्ट पदों या शब्दों के संगठन से कोई अप्रस्तुत भाव भी अनायास ही प्रकट होता है, वहां समासोक्ति अलंकार होता है, जैसे—

जीवन के दानि हों, सुजान हौ, सरस अति।
जगत के जीवन मैं, आनन्द उमाहे हौ।।

यहां जीवन शब्द अनेकार्थ सूचक तथा सरस शब्द भी दो अर्थों का सूचक है। इससे इसमें अन्यार्थ प्रतीत होता है।

(17) अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार—जहां अप्रस्तुत (उपमान) के द्वारा उपमेय का बोध कराया जाए, वहां अन्योक्ति अलंकार होता है। जैसे—

नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल।
अली कली ही सौं बंध्यो आगे कौन हवाल।।

यहां भौंरे और कली के माध्यम से प्रस्तुत राजा जयसिंह और उनकी नवोढ़ा पत्नी का बोध कराया गया है। अतः अन्योक्ति अलंकार है।

विरोधमूलक अलंकार

(18) विरोधाभास अलंकार—जहां पर विरोध न होने पर भी विरोध की प्रतीति होती हो वहां विरोधाभास अलंकार होता है। उदाहरण—

या अनुरागी चित्त की गति समुझे नहीं कोय।
ज्यों-ज्यों बूड़े स्याम रंग, त्यों-त्यों ऊजवल होय।। *(बिहारी)*

(19) विभावना अलंकार—जहां कारण के अभाव में ही कार्य की संपन्नता का वर्णन किया गया हो, वहां विभावना अलंकार होता है। उदाहरण—

'बिनु पद चलै सुनै बिनु काना।
कर बिनु करम करै बिधि नाना।। *(मानस)*

यह अलंकार दो प्रकार का होता है—(1) शाब्दी विभावना, (2) आर्थी विभावना।

- **शाब्दी विभावना**—इसमें कारण के अभाव का शब्द के द्वारा कथन किया जाता है। जैसे—

'निंदक नियरे राखिए, आंगन कुटी छवाय।
बिन पानी साबुन बिना, निर्मल करै सुभाय।।

यहां पानी और साबुन वस्त्रादि की मैल साफ करने के कारण हैं। इनके अभाव में चित्त के निर्मल होने का वर्णन किया गया है कि निंदक को पास में रखने से वह दोषों को उजागर करेगा जिससे व्यक्ति अपने दोष दूर कर लेगा।

● **आर्थी विभावना**–यहां कारण का अभाव अर्थ द्वारा कथित होता है। जैसे–'बिनु पद चलै सुनै बिनु काना'–अर्थ के द्वारा ईश्वर की महिमा का पता चलता है कि उसकी कृपा से मनुष्य बिना पैर के चल सकता है तथा बिना कान के सुन सकता है।

(20) विशेषोक्ति अलंकार–जैसा कहा जा चुका है, 'असंगति' में कारण और कार्य दोनों होते हैं, परंतु एक ही जगह नहीं, दूर-दूर, इसके विपरीत जब कारण उपस्थित होने पर भी कार्य नहीं होता तब विशेषोक्ति अलंकार होता है। जैसे–

मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलै विरंचि सम।
फूलहि फरहि न बेत, जदपि सुधा बरसहिं जलद।।

यहां विरंचि समान गुरु की प्राप्ति होने पर भी मूरख सचेत नहीं हो रहा। अर्थात प्रबल और पूर्ण कारण के रहने पर भी कार्य नहीं हो रहा।

(21) असंगति अलंकार–जहां कारण किसी अन्य स्थल पर हो और कार्य की निष्पत्ति किसी अन्य स्थल पर वर्णित हो, वहां पर असंगति अलंकार होता है। उदाहरण–

'कोयल काली मतवाली है, आम्र मंजरी झूम रहीं।

यहां मस्ती कोयल में है और आम्र मंजरी का झूमना दिखाया गया है। कार्य और कारण अलग-अलग जगहों पर स्थित है।

दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर संग प्रीति।
परति गांठि दुरजन हृदै, दई नई यह रीति।। *–बिहारी*

(22) विषम अलंकार–जहां विरोधाभास अलंकार में ऐसे पदार्थों का एक-दूसरे में संबंध कहा जाता है जिनमें वास्तव में परस्पर भेद होता है, परंतु जब ऐसे दो पदार्थों का परस्पर संसर्ग कराया जाता है जिनका संबंध अनुचित होता है तब विषम अलंकार होता है। जैसे–

कहँ धनु कुलिसहूँ चाहि कठोरा, कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा! *–तुलसी*

'शिव' के कठोर 'धनुष' और 'राम' के कोमल 'तन' का संबंध होना अनुचित लगता था परंतु यहां ऐसा कराया जा रहा है, अतः यह विषम 'असमान' संयोग है।

(23) कारणमाला अलंकार–जहां शृंखला रूप में वर्णित पदार्थों का कार्य-कारण भाव संबंध हो वहां कारणमाला अलंकार होता है। उदाहरण–

विद्या ते उपजै विनय विनय जगत-बस होय।
जगत भये बस धन मिलै, धन ते धरम उदोत।। *(हीरा द्वारा उद्धृत)*

इस अलंकार की योजना दो प्रकार से होती है–(1) पूर्व-पूर्व में कारण तथा पर-पर में कार्य (2) पूर्व पूर्व में कार्य – पर पर में कारण।

प्रथम योजना का उदाहरण ऊपर दिया गया है। दूसरी योजना का उदाहरण है–

अन्न मूल धन, धनन को मूल जग्य अभिराम।
ताको धन, धन को धरम, धरम मूल हरिनाम।।

(24) एकावली अलंकार–करणमाला में कार्य कारण का क्रम होता है किंतु जब वस्तुओं के ग्रहण और त्याग की एक श्रेणी विशेषण भाव से बन जाए अथवा निषिद्ध भाव से बन जाएं, तब एकावली अलंकार होता है। जैसे–

मैं इस झरने के निर्झर में प्रियवर सुनता हूं वह गान।
कौन गान? जिसकी तानों से परिपूरित हैं मेरे प्राण।
कौन प्राण? जिनको निशि-वासर करता एक तुम्हारा ध्यान।
कौन ध्यान? जीवन सरसिज को जो सदैव रखता अम्लान।

इसमें गान, प्राण, ध्यान के ग्रहण-त्याग की एक श्रेणी है।

निषिद्ध भाव का उदाहरण–

सोभित सो न सभा जहं वृद्ध न, वृद्ध न ते जे पढ़े कछु नाहीं,
ते न पढ़े जिन साधु न साधत, दींन दया न दिखै जिन माहीं;
सो न दया जु न धर्म धरै धर, धर्म न सौ जहं दान वृथा हीं,
दान न सौं जहं सांच न 'केसव', सांच न सो जु बसै छल छाहीं।

(25) सार अलंकार–जब पहले कही हुई वस्तुओं का उत्तरोत्तर बढ़ने (उत्कर्ष) या कम होने (अपकर्ष) का वर्णन किया जाता है, तो 'सार' अलंकार होता है। उदाहरण के लिए–

मधुर से मधु सुधा है रुचिकर, कविता रुचिकर अधिक सुधा से।

यहां मधु सुधा और कविता में क्रमशः उत्तरोत्तर अधिक मिठास बताकर उत्कर्ष की क्रमशः वृद्धि बताई गई है। अथवा–

तृण से लघु है तूल तूल से लघु है भिक्षा।

इसमें तृण तूल (रुई) और भिक्षा में क्रमशः घटती प्रतिष्ठा दिखाकर अपकर्ष की क्रमिक वृद्धि प्रदर्शित की गई है।

न्यायमूलक अलंकार-

(26) काव्यलिंग अलंकार–जहां पर किसी कथन का समर्थन करने के लिए वाक्यार्थ या पदार्थ में उसका कारण भी प्रस्तुत किया जाए वहां पर काव्यलिंग अलंकार होता है। काव्यलिंग शब्द का अर्थ भी यही होता है कि काव्य वर्ण्य विषय और लिंग हेतु अर्थात वर्ण्य विषय का लिंग या हेतु प्रस्तुत किया जाए। जैसे–

स्याम गौर किमि कहऊं बखानी।
गिरा अनयन नयन बिनु बानी।। *(मानस)*

यहां राम और लक्ष्मण के सौंदर्य को वर्णित करने की असमर्थता का कारण वाणी का नेत्रहीन होना तथा नेत्रों का वाणीहीन होना है।

(27) अर्थांतरन्यास अलंकार–जहां सामान्य कथन से विशेष या विशेष कथन से सामान्य का समर्थन किया गया हो वहां अर्थांतरन्यास अलंकार होता है। उदाहरण–

निर्वासित थे राम, राज्य था कानन में भी।
सच ही है–श्रीमान भोगते सुख वन में भी।। *(मैथिलीशरण गुप्त)*

न्यायमूलक अलंकारों के अंतर्गत परिगणित अन्य अलंकार हैं–

अनुमान अलंकार, परिकर अलंकार, सहोक्ति अलंकार, विनोक्ति अलंकार, यथासंख्या या क्रम अलंकार, पर्याय अलंकार, अत्युक्ति अलंकार, गूढ़ोक्ति अलंकार, उन्मीलित अलंकार, परिवृत्ति अलंकार, परिसंख्या अलंकार, काव्यार्थापत्ति अलंकार, मीलित अलंकार, तद्गुण अलंकार।

गूढ़ार्थ प्रतीति मूलक अलंकार-

(28) पर्यायोक्ति अलंकार–जहां विवक्षित अर्थ को सीधे-सीधे ढंग से न कह कर भिन्न प्रकार से चमत्कारपूर्ण ढंग से व्यक्त किया जाता है वहां पर्यायोक्ति अलंकार होता है। जैसे–

मातु पितहु जनि सोचबस, करहि महीप किसोर।
गर्भन के अर्भक दलन, परसु मोर अति घोर। *(मानस)*

(29) व्याजोक्ति अलंकार–व्याजोक्ति का अर्थ होता है बहाने का कथन अर्थात जहां पर गुप्त रहस्य के प्रकट होने पर उसे किसी बहाने से अन्य कथन द्वारा छुपाया जाए, वहां पर व्याजोक्ति अलंकार होता है। इसे अन्योक्ति भी कह सकते हैं। इस अलंकार में वक्ता को लगता है कि उसका गुप्त रहस्य प्रकट हो गया, इसका ज्ञान व्यंजना द्वारा उसके उस रहस्य को छिपाने के कथन से होता है। जैसे–

बहुरि गौरी कर ध्यान करेहू। भूप किशोर देखि किन लेहू।।

राम के प्रति सीता का तल्लीनता के रहस्य को गौरी का 'ध्यान' कहकर छिपाया गया है।

(30) व्याजस्तुति अलंकार–जहां पर स्तुति कथन से निंदा की और निंदा के कथन से स्तुति की व्यंजना की जाती है, वहां पर व्याजस्तुति अलंकार होता है। व्याजस्तुति का अर्थ है किसी बहाने स्तुति या निंदा करना। जैसे–

कहत कौन रण में तुम्हें, धीर वीर सरदार।
लखि रिपु बिनु हथियार जो, डारि देत हथियार।। *(वीर-सतसई)*

'हे सरदार (नायक) तुम्हें युद्ध में पराक्रमी वीर कौन कह सकता है क्योंकि तुम जैसे ही शत्रु को शस्त्र विहीन देखते ही उसके सामने हथियार डाल देते हो।' यहां सेनानायक की निंदा के बहाने उसकी स्तुति या प्रशंसा की गई है कि वह शस्त्रहीन शत्रु पर वार नहीं करता।

अन्य गूढ़ार्थ प्रतीतिमूलक अलंकार हैं–अवज्ञान अलंकार, अनुज्ञा अलंकार, तिरस्कार अलंकार।

(31) पुनरुक्तवदाभास अलंकार–जहां पर भिन्न आकार वाले किंतु समान अर्थ वाले शब्दों का इस प्रकार प्रयोग किया जाता है कि पुनरुक्ति न होने पर भी पुनरुक्ति का आभास होने लगता है, वहां पर पुनरुक्तवदाभास अलंकार होता है। जैसे–

पयोधर बने उरोज उदार।

यहां 'पयोधर' और 'उरोज' एकार्थक शब्द हैं जिनसे पुनरुक्ति का आभास होता है परंतु पयोधर में मातृत्वकाल के स्तनों का व उससे पूर्व दुग्धहीन स्तनों का वर्णन होने से यह 'पुनरुक्तवत् आभास' है।

उभयालंकार या मिश्रित अलंकार–

इस वर्ग के अंतर्गत ऐसे कथनों को लिया जाता है, जिनमें एकाधिक अलंकारों का मिश्रण या सम्मिलन रहता है। कुछ आचार्य इन्हें उभयालंकार कहते हैं। उभयालंकार से तात्पर्य होता है जिस कथन में शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों का प्रयोग किया गया हो।

(32) संसृष्टि अलंकार–जब दो या दो से अधिक शब्दालंकार या अर्थालंकार किसी काव्य में मिश्रित होते हैं तब इसे संसृष्टि कहा जाता है। संसृष्टि तीन प्रकार की होती है–

1. शब्दालंकार–इसमें शब्दालंकारों का मेल होता है।
2. अर्थालंकार–इसमें कई अर्थालंकारों का मेल होता है।
3. शब्दार्थालंकार–इसमें शब्द एवं अर्थ दोनों प्रकार के अलंकार मिले होते हैं।

शब्दालंकार संसृष्टि का उदाहरण–

दीरघ सांस न लेहि दुख, सुख सांईहिं न भूल।
दई दई क्यों करत है, दई दई, सु कबूल।।

इसमें दीरघ-दुख, सुख सांईहिं आदि में छेकानुप्रास और दई में यमक (दई – दैव, दई – दिया) होने के कारण दो शब्दालंकार एकत्र हैं। ये दोनों अलग-अलग स्पष्ट विदित होते हैं। अत: यहां संसृष्टि शब्दालंकार है।

अर्थालंकार संसृष्टि का उदाहरण–

कीर कै कागर ज्यों नृप चोर विभूषण उप्पम अंगनि पाई।
औध तजी मग बास के रूख ज्यों, पंथ के साथी ज्यों लोग लुगाई।
संग सुबंधु पुनीत प्रिया, मनो धर्म क्रिया धरि देह सुहाई।
राजिवलोचन राम चले तजि बाप को राज बटाऊ की नाईं।

इसमें उपमा और उत्प्रेक्षा दोनों अर्थालंकार की संसृष्टि है।

शब्दार्थालंकार की संसृष्टि है–

सम सुबरन सुषमाकर सुखद न थोर।
सीय अंग सखि कोमल कनक कठोर।

इसमें अनुप्रास शब्दालंकार है और व्यतिरेक अर्थालंकार भी है। इसलिए यहां शब्दार्थालंकार संसृष्टि है। वे दोनों ही यहां अलग-अलग स्पष्ट रूप से देखे जा रहे हैं।

(33) संकर अलंकार–जब एक ही छन्द में अनेक अलंकारों का सम्मेलन नीर-क्षीर न्याय से अर्थात परस्पर सापेक्ष रूप से हो, वहां संकर अलंकार होता है। "जिस प्रकार एक ही पात्र में रखे हुए तिलों और चावलों में परपर अभेद संबंध हो जाता है, उसी प्रकार संकर अलंकार में प्रयुक्त अनेक अलंकार परस्पर सापेक्ष लगते हैं। जैसे–

बीती विभावरी जाग री।
अंबर पनघटन में डुबो रही
तारा घट ऊषा नागरी।
खगकुल कुल-कुल सा बोल रहा
किसलय का अंचल डोल रहा,
लो यह लतिका भी भर लाई
मधु मुकुल नवल रस-गागरी।
अधरों में राग अमन्द पिये-
अलकों में मलयज बंद किये,
तू अब तक सोई है आली
आंखों में भरे विहाग री।

कविवर प्रसाद की इन पंक्तियों में ऊषा का वर्णन है तथा सुप्त नायिका का उद्‌बोधन अप्रस्तुत है। अतएव समासोक्ति है। साथ ही कवि ने अंबर को पनघट तारों का घट, ऊषा की नागरी, मुकुल को गागर कहकर उपमेय और उपमान में अभेद अरोपित किया है, अतः सांग रूपक है। बीती विभावरी, मधु-मुकुल में अनुप्रास है। खगकुल कुल-कुल में यमक है। अधरों में अमंद राग पीना, अब तक सोते रहने में हेतु है, अतः काव्यलिंग अलंकार है। क्योंकि इसमें हेतु प्रदर्शित किया जाता है, किंतु अंगी रूपक अलंकार है। अन्य अलंकार अंग-रूप में है। अतः इन पंक्तियों में अनुप्रास, यमक समासोक्ति, काव्यलिंग मुख्य रूपक अलंकार का उपकार करते हैं, जिनसे इनका संकर है।

(34) मानवीकरण अलंकार—जहां पर अमूर्त भावों का मूर्तीकरण कर के और जड़ पदार्थों का चेतनवत वर्णन किया जाता है वहां मानवीकरण अलंकार होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जहां अमूर्त अथवा जड़ पदार्थों का मानवीय चेष्टाओं की तरह चेष्टाएं करते हुए वर्णन किया जाता है वहां पर मानवीकरण अलंकार होता है, जैसे—

उधो! मन नाहीं दस-बीस।
एक हुतो सो गयो स्याम संग को आराधे ईस।। *(सूरदास)*

यहां अमूर्त मन को स्याम के साथ चला गया कहना उसका मानवीकरण करना है। क्योंकि गमन करना मानवीय कार्य है।

(35) ध्वन्यार्थ व्यंजना अलंकार—काव्य रचना में कई बार इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग होता है जिनकी ध्वनि ही उन शब्दों के अर्थ को भी ध्वनित या व्यंजित करती है। इस अलंकार के अंतर्गत भाषा की ध्वन्यात्मकता का विशेष महत्व रहता है। उदाहरण के लिए—

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि।

इस पंक्ति में 'कंकन', 'किंकिनि' आदि शब्द ध्वन्यात्मक हैं और अर्थ का द्योतन भी करते हैं, अर्थात इन शब्दों में 'किंकिनि' (रघनी) और 'कंकन' (कंगन) के बजने की-सी ध्वनि निकलती है।

(36) विशेषण विपर्यय अलंकार–जब किसी विशेषण को उसके विशेष्य से न जोड़कर किसी दूसरे शब्द का विशेषण बना दिया जाए, तो इसे विशेषण-विपर्यय अलंकार कहा जाता है।

जयशंकर प्रसाद की निम्नलिखित पंक्ति विशेषण-विपर्यय का उदाहरण है–

कुसुमति कुंजों में थे पुलकित, प्रेमालिंगन हुए विलीन।

यहां 'प्रेमालिंगन' का विशेषण 'पुलकित' है। वास्तव में 'पुलकित' विशेषण व्यक्ति का ही हो सकता है, 'प्रेमालिंगन' का नहीं।

3.4 सारांश

सर्वप्रथम यास्क ने 'छन्द' की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या की है। आपके अनुसार, 'छन्दांसि धारनात्' अर्थात छन्द भावों को आच्छादित कर उन्हें समष्टि रूप प्रदान करते हैं। 'छन्द' शब्द छादनार्थक 'छद्' धातु से बना है। इसके पश्चात कात्यायन ने छन्द की परिभाषा करते हुए लिखा है कि 'यदक्षर परिमाणं तच्छन्दः' अर्थात जिसमें अक्षरों के परिमाण या संख्या में वर्णों की संख्या निहित होती है, वह छन्द कहलाता है

हिंदी में छन्दों की नवीनता की आवश्यकता पर सर्वप्रथम आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने विचार व्यक्त किए थे। उन्होंने परंपरागत मात्रिक छन्दों के साथ-साथ संस्कृत के वर्ण-वृत्तों को अपनाने की ओर ध्यान दिलाया था, जिससे अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त आदि ने दिशा-संकेत पाकर संस्कृत के वर्ण वृत्तों में भी कविता आरंभ की।

लौकिक (संस्कृत) छन्दों की शास्त्रीय मीमांसा सर्वप्रथम पिंगल ऋषि ने ही की थी। पिंगल ऋषि ने ही गण-शैली का आविष्कार किया था। संस्कृत-छन्दों का निर्माण इन्हीं गणों के आधार पर अतिशय नियमबद्ध रूप में हुआ। सुनिश्चित गतियों में छन्द ऐसा बंध गया कि भावी विकास की संभावनाएं रूढ़ हो गईं। संस्कृत के गण-क्रम-बद्ध वर्ण-वृत्तों में सर्वाधिक नियमबद्धता और जटिलता है।

काव्य के संदर्भ में भी इसे शोभा बढ़ाने वाले धर्म और तत्व के रूप में लिया जाता है। बाह्य तत्व के रूप में काव्य को अलंकृत करने वाले शब्दालंकार तथा धर्म के रूप में शब्द की आत्मा में धारित यानी अर्थ को अलंकृत करने वाले अर्थालंकार। काव्य की आत्मा 'रस' है या अन्य कोई लक्षण इस तर्क-वितर्क के आरंभिक दौर में सर्वप्रथम अलंकार सिद्धांत का जन्म हुआ। काव्य की आत्मा अलंकार है ऐसा मत इस सिद्धांत के अंतर्गत स्थिर हुआ।

रस तो काव्य की आत्मा है ही, औचित्य आत्मा की भी आत्मा है। जहां तक वक्रोक्ति का प्रश्न है वह भी अलंकार है। यह शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों में सम्मिलित है। वक्रोक्ति यानी व्यंग्यार्थ व्यंजना जोकि उत्तम ध्वनि है। इससे निर्मित काव्य उत्तम काव्य की श्रेणी में आता है। अतः अलंकार सिद्धांत की उपयोगिता वक्रोक्ति एवं ध्वनि सिद्धांत को जानने के साथ-साथ पूरे काव्यशास्त्र की महिमा को जानने के लिए भी है। अलंकार के भेद असंख्य हैं क्योंकि यह अंतर्बाह्य की शोभा को बढ़ाने वाला लक्षण है।

दंडी ने काव्य-सौंदर्य के सभी तत्वों को अलंकार के अंतर्गत समाहित करने का प्रयास किया है। आपके अनुसार काव्य का विषयगत सौंदर्य सामान्य अलंकार का अंग है तो शैलीगत सौंदर्य विशेष अलंकार में समाहित हो जाता है। दंडी ने रसों को भी रसवत् अलंकारों के अंतर्गत सन्निविष्ट कर अलंकार्य और अलंकार की अभिन्नता की घोषणा कर दी। उधर दूसरी ओर दंडी वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति में अंतर मान कर चलते हैं किंतु भामह जहां स्वभावोक्ति को अलंकार मान कर उसे वक्रोक्ति के अंतर्गत परिगणित कर लेते हैं, वहां दंडी इसे इससे भिन्न रूप में स्वीकार करते हैं।

जयदेव की दृष्टि में अलंकारों के बिना काव्य का काव्यत्व ही दांव पर लग जाता है और उसके अस्तित्व के लिए खतरा उत्पन्न हो जाता है। मम्मट द्वारा प्रतिपादित काव्य लक्षण–'शब्दार्थावनलंकृती पुनः क्वापि'–का खंडन करते समय जयदेव ने कहा कि जो व्यक्ति अलंकार रहित काव्य को काव्य मानते हैं वे विद्वान अग्नि को भी उष्णता रहित क्यों नहीं मान लेते हैं।

3.5 मुख्य शब्दावली

- **सम्यक** : संपूर्ण।
- **संहिता** : नियमावली।
- **व्युत्पत्तिकारक** : उत्पत्ति से संबंधित।
- **विरसता** : रसहीनता, नीरसता।
- **अलंकृत** : सुसज्जित।
- **पार्थक्य** : अलग होना।
- **महत्ता** : महत्व।
- **मंतव्य** : मान्यता।
- **वैचित्र्य** : विचित्रता।
- **अतिशयोक्ति** : अत्यंत बढ़ा-चढ़ाकर कहा गया कथन।
- **स्वभावोक्ति** : स्वाभाविक कथन।
- **डांवांडोल** : विचलित।
- **सक्रोध** : क्रोध के साथ।
- **एकाधिक** : एक से अधिक।
- **खगकुल** : पक्षियों का कुल।

3.6 'अपनी प्रगति जांचिए' के उत्तर

1. यास्क ने
2. विराम

3. (क) वर्णिक, (ख) मात्रिक

4. वर्णिक

5. (क) सही, (ख) गलत

6. भामह

7. क्रमशः रुद्रत, वामन।

8. सौंदर्य को

9. (क) सही, (ख) गलत, (ग) सही, (घ) सही

3.7 अभ्यास हेतु प्रश्न

लघु-उत्तरीय प्रश्न

1. वेदांगों का नामोल्लेख कीजिए।
2. गण किसे कहते हैं, इनकी संख्या स्पष्ट कीजिए।
3. सोरठा का उदाहरण दीजिए।
4. 'अलंकारोति इति अलंकारः' का आशय स्पष्ट कीजिए।
5. अर्थालंकार के भेद बताइए।

दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न

1. छन्द की अवधारणा स्पष्ट करते हुए इसके अवयव एवं मात्रात्मक स्थिति पर प्रकाश डालिए।
2. कविता में छन्द का स्थान रेखांकित कीजिए और चौपाई तथा सवैया छन्द को सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।
3. अलंकारों की अवधारणा पर प्रकाश डालते हुए अलंकारों का काव्य में स्थान स्पष्ट कीजिए।
4. शब्दालंकार एवं अर्थालंकार का परिचयात्मक विवरण दीजिए।
5. अनुप्रास, उपमा एवं उत्प्रेक्षा अलंकारों का सोदाहरण परिचय दीजिए।
6. वक्रोक्ति एवं संदेह अलंकार में अंतर स्पष्ट कीजिए।

3.8 आप ये भी पढ़ सकते हैं

1. डॉ. भगीरथ मिश्र, *काव्यशास्त्र*, विश्वविद्यालय प्रकाशन गोरखपुर-1957
2. डॉ. प्रेमनारायण शुक्ल, *हिन्दी साहित्य में विविध वाद*, पद्मजा प्रकाशन कानपुर 2010-वि.सं.
3. डॉ. वेंकट शर्मा, भूमिका नगेंद्र, *आधुनिक हिंदी साहित्य में समालोचना का विकास*, आत्माराम एंड संस दिल्ली-1967

इकाई 4 : भाषा, हिंदी भाषा तथा देवनागरी लिपि – II

4.0 परिचय

वैदिक ऋषियों ने सर्वप्रथम ऋग्वेद में वाक्-सूक्त के आठ मंत्रों में इस विषय को प्रतिपादित किया है कि 'वाक् तत्व (भाषा) ही वह दिव्य ज्योति है, जो मानव को ऋषि, देवता अथवा विद्वान बनाती है।' वस्तुतः मानव अपने भावों को प्रकट करने हेतु जिस सार्थक मौखिक माध्यम का आश्रय लेता है वही 'भाषा' कहलाती है। यद्यपि संकेत आदि के द्वारा भी भावों की अभिव्यक्ति संभव है, किंतु भावों तथा विचारों को स्पष्ट करने का माध्यम भाषा ही है।

भाषा ही वह सर्वोत्तम साधन है, जिसके द्वारा सभी लौकिक कार्य सिद्ध हो जाते हैं। यह ज्ञान का मूलभूत साधन है। मानव का आंतरिक तथा बाह्य कार्य, चिंतन-मनन-अभिव्यंजन, वैयक्तिक और सामाजिक कार्यों के लिए भाषा की सहायता ली जाती है। ज्ञान-विज्ञान, धर्म-दर्शन, आचार-विचार, हेय-उपादेय का विवेक, सभी का आधार भाषा है। अतः भाषा सर्वत्र अनुस्यूत है। इस तथ्य को स्पष्ट एवं उसकी सर्वोत्कृष्टता का उल्लेख करते हुए वाक्यपदीयकार भर्तृहरि कहते हैं कि–

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमाद् ऋते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥ **(वाक्यपदीय-1.124)**

इससे ज्ञात होता है कि व्यावहारिक दृष्टि से भाषा की कितनी उपयोगिता है। भाषा के महत्व को स्वीकार करते हुए अनेक जिज्ञासाएं प्रकट होती हैं कि भाषा क्या है? भाषा की उत्पत्ति कैसे हुई? इसका निर्माण किस प्रकार होता है? इसका प्रयोग किस प्रकार होता है? इसके कौन-कौन से अवयव हैं, इसको किस प्रकार उच्चारित किया जाता है? आदि।

आज जिसे हम हिंदी कहते हैं, वह शौरसेनी का ही विकसित रूप है। इसका जन्म समय 1000 ई. के लगभग माना जा सकता है, क्योंकि चौदहवीं सदी तक साहित्य में अपभ्रंश का प्रयोग होता रहा है और वर्तमान आर्य भाषाओं का साहित्य में प्रयोग तेरहवीं शताब्दी के आदि से आरंभ हो गया था। साहित्यिक रूप लेने में किसी भी भाषा को कुछ समय तो लगता ही है। अत: इस आधार पर हिंदी का जन्म दसवीं शताब्दी में हुआ, ऐसा माना जा सकता है।

नागरी लिपि बौद्धिक, वैज्ञानिक एवं राष्ट्रीय लिपि है। नागरी अर्थात नगर के बुद्धिमान, चतुर, शिष्ट जनों के लिए प्रयुक्त होने वाले शब्द को भी इसके नामकरण का एक कारण मान सकते हैं। शिक्षा शास्त्रियों एवं भाषा वैज्ञानिकों ने इसकी वैज्ञानिकता की सराहना की है। नागरी को देवनागरी कहा जाता है। भारतीय सभ्यता के विकास में देवनागरी लिपि का महत्वपूर्ण स्थान है।

इस इकाई में हम भाषा, हिंदी भाषा एवं देवनागरी लिपि से संदर्भित अहम तथ्यों का अध्ययन करेंगे।

4.1 इकाई के उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप-

- भाषा की अर्थवत्ता, वैशिष्ट्य एवं स्वरूप को समझ पाएंगे;
- हिंदी भाषा एवं पुरानी हिंदी से संबंधित अहम तथ्यों से अवगत हो पाएंगे;
- भाषा और बोली में अंतर कर पाएंगे;
- हिंदी की प्रमुख बोलियों से परिचित हो पाएंगे;
- देवनागरी लिपि से परिचित होते हुए उसकी विशेषताओं को समझ पाएंगे;
- देवनागरी लिपि की वैज्ञानिकता स्पष्ट कर पाएंगे।

4.4 हिंदी भाषा एवं हिंदी की बोलियों का सामान्य परिचय

हिंदी भाषा का इतिहास प्राचीन भारतीय आर्य भाषा काल (2000 या 1500 ई. पू.), मध्यकालीन आर्य भाषा काल (500-1000 ई.) तथा आधुनिक आर्यभाषा काल (1000 ई.- वर्तमान तक) इन तीन खंडों से मिलकर पूरा होता है। इनमें वैदिक, लौकिक संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, बांग्ला, उड़िया, असमियां, मराठी, गुजराती आदि वर्तमान भाषाएं सम्मिलित हैं।

4.4.1 हिंदी भाषा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारतीय यूरोपीय परिवार की पहली प्रमुख शाखा भारत-ईरानी शाखा है। इस परिवार की भाषाओं को ही आर्य भाषाओं की संज्ञा दी जाती है। इसकी दो शाखाएं हैं-1. भारतीय भाषाएं और 2. ईरानी भाषाएं।

इस उपशाखा को विवरण की सुविधा की दृष्टि से *तीन वर्गों में विभक्त किया गया है*–

(क) प्राचीन भारतीय आर्य भाषा (2000 ई. पू. से 500 ई. पू. तक) (इसे कुछ विद्वानों ने वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत का नाम दिया है) संक्षेप में इसे प्रा. भा. आ. भा. नाम दिया जाता है।

(ख) मध्य भारतीय आर्य भाषा-(500 ई.पू. से 1000 ई. तक) (संक्षेप में म. भा. आ. भा.)

(ग) आधुनिक भारतीय आर्य भाषा (1000 ई. से वर्तमान समय तक) (संक्षेप में आ. भा. आ. भा.)

वस्तुतः आज की हिंदी प्राचीन भारतीय आर्य भाषा का ही विकसित रूप है। डॉ. हरदेव बाहरी ने इस विषय में बड़ी स्पष्टता से लिखा है- "हिंदी का इतिहास वस्तुतः वैदिक काल से आरंभ होता है। एक तरह से यह कहना ठीक होगा कि वैदिक भाषा ही

प्राचीनतम हिंदी है। इस भाषा के इतिहास का यह दुर्भाग्य है कि हर युग में इसका नाम परिवर्तित होता रहा है। कभी वैदिक, कभी संस्कृत, कभी प्राकृत, कभी अपभ्रंश और अब हिंदी। तमिल, रूसी, जर्मन, आदि भाषाओं में भी परिवर्तन आए हैं। लोगों ने उनके प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक रूपभेद तो बताए किंतु उनका नाम नहीं बदला। भारत में प्रत्येक युग की भाषा का नया नाम रखा जाता रहा है।"

यदि हम सूक्ष्मता से देखें तो हिंदी के पूरे विकास में हमें एकसूत्रता प्राप्त होती है, इसीलिए कुछ विद्वानों ने प्राचीन भारतीय भाषाओं से हिंदी तक के विकास की तुलना गंगा से की है। जिस प्रकार हिमालय से सागर तक गंगा का प्रवाह एक ही है किंतु उसके नाम भिन्न-भिन्न हो गए हैं। कहीं हम उसे गंगोत्री पुकारते हैं, तो कहीं गंगा और कहीं उसी का नाम हुगली कर देते हैं, किंतु वास्तव में यह विभिन्न नाम गंगा के ही रहते हैं। ठीक इसी प्रकार वैदिक बोलियों का अनंत प्रवाह संस्कृत, पालि, प्राकृत आदि के रूप में अनवरत बहता हुआ हिंदी, बांग्ला, मराठी, गुजराती आदि रूपों में दिखाई दे रहा है। यह सत्य है कि परिवर्तन प्रकृति का चिरंतन और शाश्वत नियम है और इस परिवर्तन से भाषा भी अछूती नहीं रही है, किंतु भाषा का यह कालगत परिवर्तन इतनी मंद गति से होता है कि हम अपने जीवन काल में इस परिवर्तन के स्वरूप को ही पहचान नहीं पाते। इस परिवर्तन को समझने के लिए हमें विभिन्न कालों के साहित्य को परखना पड़ता है।

वास्तव में किसी भी भाषा का विकास उसकी बोलचाल के रूप से होता है। भाषाओं के बारे में जितनी भी सामग्री प्राप्त है, उससे यही सिद्ध होता है कि बोली के आधार पर परिनिष्ठित भाषा का विकास होता है और फिर परिनिष्ठित भाषा से बोलियां उत्पन्न होती हैं। दो भाषाओं या बोलियों के मिश्रण से उत्पन्न होने वाले रूपों की बात अलग है। खड़ी बोली के आधार पर हिंदी विकसित हुई, लंदन (या मिडलैंड) की बोली के आधार पर अंग्रेजी और मास्को की बोली के आधार पर रूसी विकसित हुई। इंग्लैंड, रूस और हिंदी-प्रदेशों की बोलियां, अंग्रेजी, रूसी या हिंदी से उत्पन्न नहीं हुई।

डॉ. रामविलास शर्मा के उपर्युक्त मत से श्री जगदीश प्रसाद कौशिक सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार, यदि यह मत मान भी लिया जाए तो आज भारत में आर्य परिवार की भाषाओं के अधीन बोली जाने वाली तीन-चार सौ बोलियों का अस्तित्व छांदस् युग में भी मानना पड़ेगा जो कि संभव नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि श्री कौशिक ने डॉ. शर्मा के उपर्युक्त वाक्य- 'दो भाषाओं या बोलियों के मिश्रण से उत्पन्न होने वाले रूपों की बात अलग है' पर विशेष ध्यान नहीं दिया है अन्यथा उनकी शंका का समाधान इस वाक्य में ही था।

तात्पर्य केवल यह है कि हमारे पास प्राचीन से प्राचीन जो लिखित साहित्य प्राप्त है उसके पहले भी कोई मौखिक भाषा रही होगी जिसे हम उस समय की जन बोली कह सकते हैं। उसी का विकसित और परिमार्जित रूप ही हमें तत्कालीन लिखित साहित्य में प्राप्त होता है। अत: प्राचीन भा. आ. काल से पूर्व जो बोलियां थीं, उनका लिखित रूप प्राप्त न होने के कारण उनके विषय में कुछ नहीं बताया जा सकता। अत: वैदिक संस्कृत काल से ही प्रा. भा. आ. भाषाओं के विकास को प्रारंभ किया जाता है।

भारत में आर्यों का आगमन

भारत में आर्यों के आगमन के समय के विषय में विद्वानों में मतभेद है। अधिकांश विद्वान इस समय को 2000 ई.पू. से 1500 ई.पू. के आसपास मानते हैं। साथ ही, इस बात से भी लगभग सभी विद्वान सहमत हैं कि सभी आर्य यहां पर एक साथ नहीं आए वरन् अलग-अलग समय में विभिन्न टोलियों में आते गए। यहां के मूल निवासियों से उनका संघर्ष भी हुआ और उससे उनके रहन-सहन, खानपान और उनकी भाषा पर भी प्रभाव पड़ा। उनके जीवन में कुछ स्थायित्व आने पर उन्होंने अपनी यज्ञप्रधान संस्कृति का प्रसार यहां प्रारंभ किया। इसके लिए विभिन्न जनपदों के ऋषियों ने ऋग्वेद एवं अन्य वैदिक साहित्य की रचना की, उसे विद्वानों ने छांदस् नाम दिया। छांदस् भाषा किस बोली से विकसित हुई इसका कोई भी प्रमाण हमारे सामने नहीं है। तो भी कुछ विद्वानों ने अनुमानतः उसके रूप-निर्धारण का प्रयत्न किया है। डॉ. चाटुर्ज्या का मत है कि वेदों के संकलन काल और लेखन काल की भाषा में अवश्य अंतर रहा होगा क्योंकि लेखन के हजारों वर्ष पश्चात वेदों का संकलन किया गया। अपनी बात को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है 'हमें ऋग्वेद संहिता के प्रथम मंत्रों के रचयिता ऋषि मधुच्छन्दस के काल का पता नहीं चलता और न विश्वामित्र का ही, जिन्होंने प्रसिद्ध गायत्री मंत्र की रचना की। हम तो इन मंत्रों को उनके नाम से उसी रूप में पाते हैं जिसमें वे सर्वप्रथम लेखबद्ध होते समय प्रचलित थे। परंतु संकलन के चार-पांच सौ वर्ष पहले यदि उनकी रचना हुई होगी तो उनका रूप आज के उपलब्ध पाठ से बहुत भिन्न रहा होगा। अब वह रूप कुछ भी रहा हो हमें छांदस् भाषा का सबसे प्राचीन रूप ऋग्वेद की ऋचाओं में ही प्राप्त होता है। इस काल की भाषा को वैदिक संस्कृत का नाम भी दिया जा सकता है। इसके पश्चात लौकिक संस्कृत का काल आता है।'

अतः अध्ययन की सुविधा के लिए प्राचीन भारतीय आर्य भाषा को दो वर्गों में विभक्त कर लेते हैं-1. वैदिक संस्कृत 2. लौकिक संस्कृत।

वैदिक संस्कृत

कुछ विद्वानों ने इन दोनों के लिए संस्कृत नाम का ही प्रयोग किया है।

विभिन्न नाम- इस भाषा के अन्य नाम छांदस, वैदिकी, प्राचीन संस्कृत, संस्कृत आदि हैं।

प्राचीन रूप- इसका प्राचीनतम रूप ऋग्वेद संहिता में मिलता है। ऋग्वेद का समय अनिश्चित है। कुछ विद्वान ऋग्वेद को पंजाब के साहित्यकारों की कृतियों का संग्रह मानते हैं। इसका कारण ऋग्वेद के मंत्रों का सूक्ष्मता से अध्ययन करने पर स्पष्ट ज्ञात होता है कि उनकी रचना न एक व्यक्ति द्वारा हुई है और न ही एक समय और एक स्थान पर ही। वस्तुतः वह कई शताब्दियों में पंजाब के विभिन्न स्थानों में उत्पन्न हुए कितने ही साहित्यकारों की रचनाओं का संकलन ज्ञात होता है। ऋग्वेद के दस मंडलों में प्रथम और दशम बाद की रचना माने जाते हैं। बीच के आठ मंडलों की भाषा अवेस्ता के अधिक निकट है। किंतु पहले और दसवें मंडल की भाषा पर किंचित् अनार्य जातियों की भाषाओं का प्रभाव लक्षित होता है। सामवेद और यजुर्वेद में यह प्रभाव कुछ बढ़ गया दिखता है।

वैदिक साहित्य के अंतर्गत वेदों, ब्राह्मण ग्रंथों, आरण्यक और उपनिषदों की गणना की जाती है। वेदों की भाषाओं से ब्राह्मण ग्रंथों की भाषा, ब्राह्मण ग्रंथों की भाषा से आरण्यक और उपनिषदों की भाषा में हमें क्रमिक विकास दिखाई पड़ता है। यह विकास शताब्दियों में ही हुआ होगा, यह निश्चित है। पाणिनि के समय तक वैदिक साहित्य की भाषा छांदस् और तत्कालीन साधारण शिष्ट एवं शिक्षित लोगों की भाषा में पर्याप्त अंतर आ चुका था। पाणिनि ने अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणों का उल्लेख किया है। पाणिनि के काल तक वैदिक भाषा कई रूपों में विकसित हो चुकी थी। जिस भाषा में ऋग्वेद की रचना हुई थी वह उस समय की सबसे अधिक परिनिष्ठित, साहित्यिक भाषा थी। वह अपने से पूर्व की ही किसी लोक भाषा से विकसित हुई थी, किंतु लिखित साहित्य के अभाव में उस लोक भाषा के विषय में आज कुछ भी ज्ञात करने का हमारे पास कोई साधन नहीं है। वैदिक संस्कृत के विकास के भी हमें दो रूप प्राप्त होते हैं। उसका एक रूप हमें वेदों की ऋचाओं में प्राप्त होता है और दूसरा रूप ब्राह्मण ग्रंथों में। ब्राह्मण ग्रंथ मुख्यतः गद्य में है अतः इनका महत्व भाषा वैज्ञानिक अध्ययन के लिए कुछ विशेष ही है। इनसे वाक्य रचना की प्रणाली जानने में विशेष सहायता मिलती है। गद्य और पद्य में प्राप्त इनके लिखित रूपों के अतिरिक्त उस समय की लोक भाषाएं भी मौखिक रूप से साथ ही साथ विकसित हो रही थीं। तभी गौतम बुद्ध के समय तक उत्तर भारत में उदीच्य, प्राच्य, और मध्यदेशीय, ये तीन भाग भाषा के विभेदों के कारण हो गए थे।

लौकिक संस्कृत

विभिन्न नाम- इसे 'संस्कृत', 'लौकिक संस्कृत' तथा 'क्लासिकल संस्कृत' भी कहते हैं। भाषा के अर्थ में 'संस्कृत (संस्कार की गई, शिष्ट या अप्राकृत) शब्द का प्रथम प्रयोग वाल्मीकि रामायण में मिलता है' इसीलिए कुछ विद्वानों का मत है कि मूल भाषा का नाम प्राकृत भाषा था और संस्कृत रूप उसके बाद का है। कुछ विद्वान वैदिक भाषा से ही संस्कृत का विकास मानते हैं। इससे भिन्न कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि संस्कृत का विकास वैदिक भाषा से न होकर उस समय की किसी लोक भाषा से हुआ है। 'संस्कृत' की स्थिति को समझने के लिए हम खड़ी बोली का उदाहरण ले सकते हैं। खड़ी बोली मेरठ के आस-पास के कुछ जिलों की बोली है, किंतु राजनीतिक, आर्थिक, व्यापारिक आदि कारणों से वह अन्य बोलियों की तुलना में आगे निकल आई और आज संपूर्ण भारत की राष्ट्रभाषा बन गई है। खड़ी बोली के राष्ट्रीय भाषा या साहित्यिक भाषा होने का यह अर्थ नहीं कि आज दूसरी बोलियां या भाषाएं ही नहीं हैं। बोलियां तो अनेक हैं, किंतु जो महत्ता खड़ी बोली को मिली है वह अन्यों को नहीं। इसी तरह संस्कृत भी समसामयिक इतर भाषाओं की तुलना में आगे निकल गई और भारत की सांस्कृतिक भाषा बन गई, किंतु जो भाषाएं उस समय जन साधारण में प्रचलित रही होंगी, उनका मार्ग अवरुद्ध नहीं हुआ होगा। इन्हीं से भारत की अनेक भाषाओं का विकास मानना असंगत न होगा।

किंतु डॉ. ग्रियर्सन, वेबर एवं हार्नली आदि विद्वान इस मत से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि संस्कृत कभी बोलचाल की भाषा नहीं रही। डॉ. भंडारकर और डॉ. गुणे ने इन विद्वानों के मत का खंडन करते हुए कहा है कि संस्कृत निश्चित रूप से बोलचाल की भाषा से विकसित हुई है, क्योंकि बुद्ध के समय तक भाषा के तीन विभेद हो गए थे। इनमें से उदीची की भाषा को पाणिनि ने प्रश्रय दिया। उदीच्य भाषा वस्तुतः पंजाब की भाषा थी। इसमें

आर्य भाषा का प्राचीनतम रूप बहुत कुछ सुरक्षित था। मध्य देशीय और प्राच्य भाषाओं पर द्रविड़ प्रभाव कुछ अधिक आ चुका था। पाणिनि उसी प्रदेश के थे जहां उदीच्य भाषा बोली जाती थी। वस्तुतः वे तक्षशिला के समीप के शालातुर नामक स्थान के निवासी थे। अतः वे उदीच्य भाषा से पूर्ण परिचित थे, इसलिए उन्होंने इसी भाषा का संस्कार किया और अपनी प्रसिद्ध कृति, 'अष्टाध्यायी' में इसी भाषा का व्याकरण एवं आदर्श रूप प्रस्तुत किया। 'अष्टाध्यायी' द्वारा संस्कृत भाषा का रूप हमेशा के लिए स्थिर हो गया, परंतु इससे वह परिणाम नहीं निकला जैसा कुछ यूरोपीय विद्वानों ने सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि संस्कृत सर्वथा 'कृत्रिम भाषा' है और कभी बोलचाल की भाषा न थी। पाणिनि ने वैदिक भाषा को 'छांदस' नाम दिया है और अपने व्याकरण की आदर्श भाषा को लोक प्रचलित भाषा कहा है। डॉ. बाहरी का भी यही मत है। उनका कहना है कि पाणिनि ने वैदिक संस्कृत को देववाणी और इसको भाषा कहा है। इससे स्पष्ट होता है कि उस काल में संस्कृत बोलचाल की भाषा थी।

अतः कह सकते हैं कि संस्कृत का विकास उदीच्य प्रदेश में बोली जाने वाली किसी बोली से ही हुआ।

आर्यभाषा की प्रमुख विशेषताएं

1. हिंदी की आज की वर्णमाला वस्तुतः प्राचीन आर्य भाषा काल की ही है। संस्कृत में 'ऐ' और 'औ' का 'अइ', 'अउ' उच्चारण होता है, वैदिक में 'आइ', 'आउ' था। 'ल' और 'लह' वैदिक भाषा की विशिष्ट ध्वनियां थीं जो आज भी कुछेक भाषाओं में चल रही हैं किंतु संस्कृत में यह नहीं थीं।
2. वैदिक भाषा श्लिष्ट योगात्मक है।
3. वैदिक भाषा स्वर प्रधान है किंतु संस्कृत भाषा बल प्रधान हो गई।
4. वैदिक और संस्कृत दोनों में तीन लिंग और तीन वचन होते हैं।
5. वैदिक भाषा में शब्दों के एकाधिक रूप मिलते हैं, जबकि संस्कृत में प्रायः एक ही रूप लिया गया है।
6. संधियों की दृष्टि से भी लौकिक संस्कृत और वैदिक संस्कृत में स्पष्ट अंतर आ गया था।
7. वैदिक भाषा में उपसर्ग का प्रयोग मूल शब्द से हटकर भी हो सकता है, किंतु संस्कृत में नहीं।
8. वैदिक संस्कृत में धातु का अर्थ प्रायः सुरक्षित था, किंतु लौकिक संस्कृत के काल तक आते-आते उनमें कुछ-कुछ अर्थ-परिवर्तन आरंभ हो गया था।
9. वैदिक भाषा की रूप रचना में विविधता और जटिलता थी। रूप बहुत अधिक थे और इनमें अपवादों की संख्या भी बढ़ी-चढ़ी थी, जबकि लौकिक संस्कृत में आकर रूप कुछ कम हो गए और अपवाद भी पहले से बहुत कम हो गए। पाणिनि के प्रयास से संस्कृत भाषा अधिक नियमबद्ध हो गई।
10. इस युग की भाषा के साहित्य की रक्षा के लिए जो युक्तियां काम में लायी गई, वे भी अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। अतः उनका उल्लेख भी यहां अनुचित न होगा। श्रुति की रक्षा के लिए पदपाठ, क्रमपाठ, जटापाठ, धनपाठ आदि कृत्रिम उपायों का आश्रय

लेकर इन्हें विद्वत् मंडली में जीवित रखने का सफल प्रयत्न किया गया। भाव-गरिमा की रक्षा भी सूत्रशैली के द्वारा की गई। इस प्रकार इस प्राचीन भाषा की ठीक-ठीक रक्षा संभव हो सकी।

11. वैदिक के पश्चात संस्कृत शिष्ट समाज के परस्पर विचार-विनिमय की भाषा बनी। संस्कृत यह काम कई सदी बाद तक करती रही। प्राच्य प्रभाव के कारण कुछ सदियों तक संस्कृत का प्रभाव सीमित हो गया, परंतु मौर्य साम्राज्य के छिन्न-भिन्न हो जाने पर संस्कृत भाषा ने फिर अपना आधिपत्य जमा लिया। संस्कृत का पहला शिलालेख रूद्रदामन् का गिरनार वाला है। जिसकी तिथि 150 ई. है। तब से लेकर प्राकृतों के प्रसाद तक संस्कृत ही हिंदू राज्यों की राजभाषा रही । प्राय: बारहवीं सदी तक इसको राजदरबारों से विशेष प्रश्रय मिलता रहा।

12. वैदिक संस्कृत के शब्द-भंडार में अधिकतर तत्सम शब्द ही थे, किंतु धीरे-धीरे तद्भव, देशज एवं विदेशी शब्द भी इसमें प्रवेश करने लगे थे। द्रविड़ और आस्ट्रिक भाषाओं के भी कितने ही शब्द इसमें प्रवेश करने लगे थे। वैदिक संस्कृत ने द्रविड़ एवं आस्ट्रिक भाषाओं को ही नहीं भारत से बाहर की, चीन, तिब्बत, हिंदचीन, जावा, सुमात्रा, बाली, कोरिया एवं जापान आदि की भाषाओं को भी प्रभावित किया था। यूरोप में जो प्रभाव लैटिन का और अफ्रीका तथा एशिया के पश्चिमी भाग में जो प्रभाव अरबी का पड़ा है, वैसा ही अथवा उससे भी अधिक संस्कृत का प्रभाव एशिया के शेष भागों पर बराबर पड़ा है। भारतीय आर्य इसे देववाणी कहते हैं और आज भी यह 30 करोड़ (इस समय लगभग 60 करोड़) हिंदुओं के लिए श्रद्धा की चीज है। बोलचाल की भाषा न होते हुए भी आज जो श्रेय इसे प्राप्त है, वह संसार की किसी भाषा को प्राप्त नहीं है।

मध्ययुगीन भारतीय आर्य भाषाएं : पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश

उदीच्य भाषा का संस्कार करके जब पाणिनि ने उसे संस्कृत भाषा के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया तो उत्तर भारत ने शीघ्र ही उसे साहित्यिक एवं सांस्कृतिक भाषा के रूप में अपना लिया। किंतु लोकभाषा के रूप में प्राच्य और देशीय भाषाएं भी संस्कृत के समानांतर चल रही थीं। भगवान बुद्ध एवं महावीर के समय तक प्राच्य प्रदेश की लोकभाषा उदीच्य प्रदेश की भाषा संस्कृत से भिन्न हो चुकी थी। प्राच्य प्रदेश में उस समय संस्कृत केवल विद्वानों की भाषा रह गई थी। अत: गौतम बुद्ध एवं महावीर ने उसके विरुद्ध विद्रोह करके अपनी-अपनी मातृ भाषाओं को ही अपने उपदेशों के प्रसार-प्रचार का साधन बनाया और इसी के फलस्वरूप मध्य भारतीय भाषाओं का प्रादुर्भाव हुआ। आर्य भाषाओं के मध्य काल की भाषाओं की तीन स्थितियां हैं। इनके नाम एवं समय के विषय में विभिन्न विद्वानों में मतभेद हैं।

(1) प्रथम संस्कृत (वेदों की भाषा)

(2) द्वितीय संस्कृत
(ब्राह्मण, ग्रंथों की और उपनिषदों की भाषा)

(1) प्रथम प्राकृत
(वैदिक युग की साधारण जनभाषा)

(2) द्वितीय प्राकृत
(जिसका 'पालि' रूप प्राकृत है और अन्य साहित्यिक रूप व्यंजन-लोप

तथा णकार-प्रियता से विकृत कर दिए गए हैं।)

(3) तृतीय संस्कृत (जो आज भी अपने निखरे हुए रूप में 'लौकिक संस्कृत' नाम से प्रसिद्ध है। पाणिनि द्वारा व्यवस्थित जिसमें कालिदास आदि की रचनाएं हैं।

(3) तृतीय प्राकृत (जिसे 'अपभ्रंश' कहते हैं और जिसके विभिन्न प्रादेशिक भेदों से आज की भारतीय भाषाओं का विकास है। यानी यही प्राकृत विकसित व्यवस्थित होकर आज की भारतीय (हिंदी आदि) भाषाओं के रूप में स्थित है।

अर्थात जिसे हम आज की 'पालि' भाषा कहते हैं उसका प्रारंभिक क्षेत्र वही रहा होगा जहां गौतम बुद्ध का जन्म हुआ था, अर्थात मगध प्रदेश। किंतु बुद्ध के जन्म के समय में यह एक बोली के रूप में रही होगी। भगवान बुद्ध की मातृभाषा भी यह बोली रही होगी। बुद्ध ने अपने प्रारंभिक उपदेशों की भाषा इसी बोली को बनाया होगा। ज्यों-ज्यों बुद्ध के प्रचार का क्षेत्र बढ़ता गया, यह बोली भी फैलती गई और विभिन्न बोलियों के शब्दों को अपने में आत्मसात करके पुष्ट होती गई, इसीलिए बुद्ध के उपदेशों का जो लिखित रूप मिलता है, उसमें कई क्षेत्रों की बोलियों के शब्द मिलते हैं। इसी से लोगों ने उसके क्षेत्र के विषय में विभिन्न प्रकार की कल्पनाएं कर डालीं।

साहित्य (पालि)

पालि भाषा में पर्याप्त साहित्य प्राप्त होता है। इसमें बौद्ध धर्म के मूल ग्रंथ, टीकाएं, कथा साहित्य, काव्य, कोश, व्याकरण आदि सभी कुछ प्राप्त होता है। इसमें भगवान बुद्ध के वचनों का संग्रह 'त्रिपिटक' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें 'सुत्त', 'विनय' तथा 'अभिधम्म' पिटक आते हैं। सुत्त (सूत्र) पिटक में साधारण बातचीत के ढंग पर दिए गए भगवान बुद्ध के उपदेशों का संग्रह है। इसमें सारिपुत्त तथा मोग्गलान आदि द्वारा भी कतिपय सूत्र सम्मिलित कर लिए गए हैं, जिनका अनुमोदन भगवान ने अंत में कर दिया है। इन पिटकों के पश्चात इन पिटकों पर लिखी गई टीकाओं का साहित्य आता है, जिन्हें अनुपालि या अनुपिटक कहते हैं। *विनयपिटक* में भगवान बुद्ध की उन शिक्षाओं का संग्रह है, जो उन्होंने समय-समय पर संघ संचालन को नियमित करने के लिए दी थी। इसके अतिरिक्त जातक साहित्य भी पालि भाषा की महत्वपूर्ण निधि है। अनुपिटक का अधिकांश भाग सिंहली विद्वानों ने लिखा है। इसके अतिरिक्त छन्द शास्त्र, व्याकरण (कच्चान व्याकरण) कोष, इतिहास (दीपबंस, तथा महाबंस) आदि विषयों पर भी श्रेष्ठ ग्रंथ इस भाषा में लिखे गए हैं।

द्वितीय प्राकृत-साहित्यिक प्राकृत

पूरे मध्य भा. आ. काल को प्राकृत नाम से अभिहित किया गया है। इसका पुनः तीन पर्वों या तीन प्राकृतों में विभाजन किया गया है। साहित्यिक प्राकृतें इस काल की दूसरी अवस्था की द्योतक हैं। 'प्राकृत' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में भी विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान मानते हैं कि प्रकृति या मूल से उत्पन्न अर्थात संस्कृत की पुत्री। दूसरे कुछ विद्वानों का मत है 'प्राकृत' शब्द की व्युत्पत्ति 'प्रकृति' (जनसाधारण) से है, अतः 'प्राकृत' का अर्थ हुआ जनसाधारण की भाषा। शिष्ट समाज की भाषा और संस्कृत से भेद प्रकट करने के

लिए जन सामान्य की भाषा को 'प्राकृत' संज्ञा दी गई। इस मत के मानने वालों का यह भी कहना है कि वेद से पूर्व भी प्राकृतें थीं, जिनमें से एक ने विकसित होकर ऋग्वेद की साहित्यिक भाषा का रूप ग्रहण किया। वैदिक काल में भी प्राकृतें थीं और जिस प्रकार वे साहित्यिक भाषा से प्रभावित होती थीं उसी प्रकार साहित्यिक भाषा को प्रभावित भी करती थीं। वेद में रूपों का वैविध्य और ध्वनि द्वैध जनभाषाओं के अस्तित्व को प्रमाणित करता है। वेद में अनेक प्रादेशिक तथा प्राकृत शब्द और प्रयोग मिलते हैं। ऐसा डॉ. बाहरी का विचार है। प्राकृत के वैयाकरणों के ग्रंथों को देखने से तो ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें अपने से कुछ ही पहले तक 'पालि' भाषा का ज्ञान ही न था। संभवत: इसका पहला कारण यह रहा होगा कि 'पालि' भाषा उस समय तक धार्मिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी और वैयाकरणों और साहित्यकारों ने उसे साहित्यिक से भिन्न भाषा मान लिया था। अत: उसमें साहित्य लिखना अथवा उसकी चर्चा करना भी वे उचित नहीं समझते थे। इसका दूसरा कारण यह हो सकता है कि जिन क्षेत्रों में पालि का प्रसार था, उससे भिन्न क्षेत्र की बोलियां पालि के समानांतर विकसित हो रही थीं। 'पालि' उन क्षेत्रों में यदि आई भी होगी तो केवल प्रचार की भाषा बनकर। अत: जनमानस पर उसका विशेष प्रभाव नहीं हुआ होगा। दूसरी ओर वहां की क्षेत्रीय बोलियों को साहित्यकारों और वैयाकरणों का सहयोग मिल गया होगा और वे 'साहित्यिक प्राकृतों' के रूप में विकसित होने लगी होंगी। संभवत: इन्हीं कारणों से उत्तरकालीन प्राकृत वैयाकरणों ने 'पालि' एवं अशोक के अभिलेखों की भाषा पर विचार न किया होगा। इन वैयाकरणों ने संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त तथा कुछ काव्य ग्रंथों एवं जैनों के धार्मिक ग्रंथों में व्यवहृत प्राकृत पर ही विचार किया होगा।

साहित्यिक प्राकृतें कितनी थीं, इस पर भी विद्वान एकमत नहीं है। यह संख्या 5 से लेकर 18 तक पहुंच गई है। सबसे प्रथम प्राकृत वैयाकरणों में वररुचि का नाम आता है। उन्होंने अपने व्याकरण ग्रंथ 'प्राकृत प्रकाश' में चार प्राकृत भाषाओं का विवेचन प्रस्तुत किया है। ये हैं–

1. महाराष्ट्री
2. पैशाची
3. मागधी
4. शौरसेनी

जैन आचार्य हेमचंद्र ने अपने ग्रंथ 'हेम शब्दानुशासन' में सात प्राकृतों की चर्चा की है। ये हैं–

1. महाराष्ट्री अथवा प्राकृत
2. शौरसेनी
3. पैशाची
4. चूलिका पैशाची
5. मागधी
6. आर्ष या अर्धमागधी
7. अपभ्रंश।

इनके अतिरिक्त लगभग अन्य ग्यारह प्राकृतों की चर्चा विभिन्न विद्वानों ने की है।

तृतीय प्राकृत - अपभ्रंश

म. भा. आ. भाषा के अंतिम विकास को 'अपभ्रंश' के नाम से अभिहित किया गया है इसका समय मोटे रूप से 500 ई. और 1000 ई. के बीच माना जाता है। इसके अन्य भी कई नाम हैं, जैसे- 'अवहंस', 'देसी भाषा', 'आभीरोक्ति', 'आभीरी ग्रामीण भाषा', 'देसी' आदि। पं. किशोरीदास वाजपेयी ने इसे तृतीय प्राकृत कहना ही उचित समझा है। अपभ्रंश कहना ठीक नहीं। उनके अनुसार "इन तीसरी प्राकृतों को या प्राकृत की तीसरी अवस्था के रूपों को, लोग 'अपभ्रंश' कहते हैं, जो ठीक नहीं। तीसरी प्राकृत कहना ठीक है। कली खिलकर फूल बन जाए, तो कहा जाएगा-कली खिल गई, कली फूल बन गई। यह न कहा जाएगा कि 'कली बिगड़ गई-या कली का बिगड़ा हुआ रूप फूल है।" (हिंदी शब्दानुशासन)

वस्तुतः यह भाषा ही म. भा. आ. भाषा और आधुनिक आर्य भाषाओं (हिंदी, मराठी, गुजराती, बांग्ला आदि) के बीच की कड़ी है। इन सभी भाषाओं को अपभ्रंश की स्थिति से होकर गुजरना पड़ा है।

अपभ्रंश शब्द का प्रयोग दो अर्थों में मिलता है- प्रथमतः, एक भाषा विशेष के अर्थ में और दूसरे, संस्कृत से विकृत तद्भव शब्दावली के रूप में। दूसरे अर्थ में अपभ्रंश शब्द का प्रयोग अत्यंत प्राचीन है। संस्कृत वैयाकरणों ने तो संस्कृत से भिन्न समस्त भाषाओं को ही 'अपभ्रंश' कहा है किंतु अपभ्रंश शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम पतंजलि के महाभाष्य में मिलता है। पतंजलि का समय ई. पूर्व दूसरी शताब्दी माना जाता है। इसके पश्चात भामह, चंड, दंडी आदि ने भी काव्य भाषाओं की चर्चा करते समय अपभ्रंश का उल्लेख किया है। 'काव्यादर्श' में आचार्य दंडी ने स्पष्ट लिखा है कि काव्य में आभीरों आदि की भाषा अपभ्रंश कहलाती है। इसी कारण डॉ. नामवर सिंह ने कहा कि भाषा के अर्थ में अपभ्रंश का योग छठी शताब्दी के आस-पास ही आरंभ हो गया था, यद्यपि उसका लिखित रूप सर्वप्रथम हमें कालिदास के विक्रमोर्वशीयं नाटक के चतुर्थ अंक में मिलता है, जिसका समय चौथी शताब्दी है। कुछ विद्वानों ने तो यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि अपभ्रंश भाषा तीसरी शताब्दी में अस्तित्व में आ चुकी थी और उसका काव्य ग्रंथों में प्रयोग आरंभ हो गया था। किंतु भाषा के अर्थ में अपभ्रंश का प्रयोग छठी शताब्दी से आरंभ हुआ और ग्यारहवीं शताब्दी तक यह भारत की एकमात्र साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित रही। तीसरी शताब्दी में भी अपभ्रंश का अस्तित्व था किंतु वह एक बोली के रूप में ही थी। इससे स्पष्ट होता है कि शौरसेनी, मागधी आदि की भांति अपभ्रंश भी एक प्रदेश की बोली थी और उसका साहित्यिक विकास बाद में उसी प्रकार हुआ जैसे खड़ी बोली का साहित्य के रूप में विकास, ब्रजभाषा के साहित्य के पश्चात होता है। किंतु इस विकास से यह तात्पर्य निकालना कि ब्रजभाषा से खड़ी बोली का विकास हुआ, उचित नहीं है। ठीक इसी प्रकार प्राकृत से अपभ्रंश का विकास मानना भी असंगत है। भरत, चंड, हेमचंद्र विश्वनाथ आदि विद्वानों ने भी अपभ्रंश को प्राकृतों में गिना है। डॉ. बाहरी इससे सहमत हैं और इसका उस समय की पश्चिमी भाषा के रूप में उल्लेख किया है। इसी प्रसंग में उन्होंने यह भी कहा है कि हिंदी के विकास में अपभ्रंश के योग की अतिरंजना की जाती रही है। वास्तव में अपभ्रंश के जो लक्षण बताए जाते रहे हैं, वे सब अपभ्रंश के अपने नहीं हैं, उनमें अधिकतम शौरसेनी और महाराष्ट्री के हैं।

आधुनिक विद्वानों ने प्रत्येक प्राकृत से एक-एक अपभ्रंश का उद्‌भव माना है और उनके अनुसार आगे चलकर इन विभिन्न अपभ्रंशों से ही आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का विकास हुआ। इस विकास को निम्नलिखित रूप में समझने में सरलता होगी–

अपभ्रंश बोलियां	उनसे निकलने वाली आधुनिक भाषाएं
1. शौरसेनी	1. पश्चिमी हिंदी, ब्रजभाषा, बांगरू, खड़ी बोली, कन्नौजी, बुंदेलखंडी।
	2. इसके नागर रूप से विकसित गुजराती।
	3. उपनागर रूप से विकसित राजस्थानी हिंदी।
	4. इस अपभ्रंश के पहाड़ी भागों में स्थिति रूप से-पहाड़ी यह शौरसेनी से प्रभावित है।
2. अर्ध मागधी	1. पूर्वी हिंदी-अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी
3. मागधी	1. भोजपुरी
	2. मगही
	3. बांग्ला
	4. असमी
	5. उड़िया
4. ब्राचड सिंधी	(1) लहंदा
	(2) पंजाबी (इस पर शौरसेनी अपभ्रंश का भी प्रभाव है)
5. पैशाची	
6. महाराष्ट्री	मराठी

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएं

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का उद्‌भव 1000 ई. के लगभग हुआ। इन भाषाओं का विकास अपभ्रंश के विभिन्न रूपों में हुआ। इस वर्ग की भाषाओं में कुछ ध्वनि, शब्द और व्याकरण संबंधी ऐसी विशेषताएं हैं जिनके आधार पर इन्हें अन्य वर्ग की भाषाओं से अलग कर सकते हैं। इन भाषाओं में कुछ प्रमुख भाषाओं का उल्लेख यहां किया जा रहा है-

असमी

यह असम प्रदेश की भाषा है। इसका अति प्राचीन नाम 'प्राग्‌ज्योतिष' मिलता है। असम के दक्षिणी भाग का नाम कामरूप था। असम में अनेक आदिवासी कबीले हैं। वे असमी के अतिरिक्त अपनी-अपनी बोलियों का उपयोग करते हैं। इन कबीलों में ईसाई मिशनरियों ने पर्याप्त प्रचार किया है, फलस्वरूप अंग्रेजी का भी प्रभाव इन पर देखा जा सकता है। असमी भाषा बांग्ला भाषा से प्रभावित है। किंतु इसका साहित्य बांग्ला की भांति समृद्ध नहीं है। इसकी

लिपि भी दो तीन अक्षरों को छोड़कर शेष बांग्ला ही है। इसके नाम के विषय में कुछ लोगों का विश्वास है कि तेरहवीं शताब्दी में 'थाई' या 'शान' जाति के 'अहोम' लोग यहां आ बसे थे, जिनके नाम पर इस प्रदेश का नाम अहम-असम पड़ा। इसकी उत्पत्ति भी मागधी अपभ्रंश से हुई मानी जाती है।

मुख्य असमिया भाषा केवल दक्षिणी असम, लखीमपुर से गोलापुर तक के प्रदेश में बोली जाती है। इसके पूर्व में बर्मी भाषा, पश्चिम में बांग्ला, उत्तर में पहाड़ी भाषाएं तथा तिब्बती बर्मी परिवार की भाषाएं तथा दक्षिण में भी बांग्ला भाषा बोली जाती है। इसमें लोकगीतों की परंपरा अच्छी है, किंतु प्रकाशित साहित्य कम है। प्राचीन असमिया में शंकरदेव, रामस्वामी आदि का नाम भी उल्लेखनीय है। आधुनिक युग के प्रसिद्ध साहित्यकार हैं रघुनाथ चौधरी, देवकांत बरुआ, हेम बरुआ, चंद्रकुमार अग्रवाल, अतुलचंद्र आदि।

विशेषताएं

1. बांग्ला की तुलना में असमी में च, छ का स, और स का ह या ख होता है।
2. संयुक्त व्यंजनों में द्वित्व का आभास होता है, 'अ' का 'ओ', 'य' 'व' का 'ज', 'ब', 'ण' का 'न' बांग्ला की तरह होता है।
3. 'ट', 'ड', का उच्चारण 'त', 'द' की तरह सुनाई देता है। 'ड' का उच्चारण 'र' तथा 'ज' का 'ज' के समान होता है।
4. यह बांग्ला की अपेक्षा अधिक संयोगात्मक है।
5. असमी में दो लिंग और दो वचन होते हैं।

उड़िया

वर्तमान उड़ीसा की भाषा उड़िया कहलाती है। उड़ीसा का प्राचीन नाम 'कलिंग' तथा 'उत्कल' भी मिलता है। इसलिए इस भाषा को उड़िया, ओड़ी या उत्कली भी कहते हैं। तमिल 'औड़' शब्द (कृषि करना) के नाम पर हिंदी ओड़ एवं सा मिलकर ओड़िसा पड़ा, इसलिए कुछ विद्वान उड़ीसा के स्थान पर ओड़िसा ही कहते हैं। इसका विकास मागधी अपभ्रंश से हुआ। किंतु कुछ विद्वानों ने औड़ और उत्कली अपभ्रंश की कल्पना करके उड़िया के विकास को माना है। उड़िया का असमी के समान बांग्ला से घनिष्ठ संबंध है। बहुत समय तक इस प्रदेश पर तैलंगों तथा मराठों का शासन रहा है इसलिए इस भाषा में तेलुगु और मराठी के शब्दों की भी काफी संख्या मिलती है। ग्यारहवीं शताब्दी के अनंत वर्मा उरजम के शिलालेखों में उड़िया का प्रारंभिक रूप मिलता है।

उड़िया में प्राचीन कृष्ण साहित्य प्राप्त है। प्राचीन कवियों में उपेंद्र भंज, सरलदास, दीन कृष्ण, गोपाल कृष्ण आदि का नाम उल्लेखनीय है। राधानाथ झा, मधुसूदन, फकीर मोहन, रघुनाथ राय, गंगाधर, गोपालचंद्र, गोपबंधु दास, कुंतल कुमारी देवा आदि आधुनिक युग के प्रमुख साहित्यकार हैं।

विशेषताएं

1. अधिकांश ध्वन्यात्मक विशेषताएं बांग्ला से मिलती-जुलती हैं।

2. 'ऋ' के स्थान पर 'रू'; 'श' 'ष' के स्थान पर 'स' हो जाता है।

3. इसमें भी दो वचन और दो लिंग हैं। व्याकरणगत लिंग नहीं हैं, केवल स्वाभाविक लिंग हैं।

4. 'न' का विभिन्न रूपों में परसर्गों के लिए प्रयोग किया जाता है।

गुजराती

यह गुजरात प्रदेश की भाषा है। गुजरात के अतिरिक्त इस भाषा के बोलने वालों की संख्या मुम्बई नगर में भी काफी है। इसकी उत्तरी सीमा पर सिंधी और मारवाड़ी, दक्षिणी सीमा पर मराठी तथा पूर्वी सीमा पर भीली, जयपुरी और खानदेशी भाषाएं बोली जाती हैं। इसका संबंध शौरसेनी अपभ्रंश से माना जाता है। किंतु कुछ विद्वानों ने इसका उद्‌भव गुर्जर से भी माना है। राजस्थानी और इसकी समानता देख कर कुछ विद्वानों का विचार है कि प्रारंभ में पश्चिमी राजस्थानी एवं गुजराती एक ही भाषा थी। लगभग पंद्रहवीं अथवा सोलहवीं शताब्दी में ये दो भागों में विभक्त हो गई- गुजराती और मारवाड़ी। इसकी क्षेत्रीय बोलियां कम ही हैं। इन बोलियों में सबसे महत्वपूर्ण 'काठियावाड़ी' है। गुजराती भाषा की लिपि 'कैथी' से मिलती-जुलती है। यह देवनागरी लिपि के अति निकट है। इस भाषा का साहित्य पर्याप्त समृद्ध है। प्राचीन कवियों में नरसी मेहता का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। आधुनिक काल के साहित्यकारों में श्री गोवर्धन राम त्रिपाठी (सरस्वती चंद्र) क. मा. मुंशी, रमणलाल देसाई, धूमकेतु आदि का स्थान महत्वपूर्ण है।

विशेषताएं

(1) 'द्वित्व' व्यंजन का सरलीकरण द्वित्व को समाप्त कर प्रथम स्वर को दीर्घ कर दिया जाता है।

(2) 'क' 'ख' ग' के स्थान पर क्रमशः 'च' 'छ' ज' हो जाता है।

(3) 'स' का 'ह' और 'ह' का 'अ' हो जाता है।

(4) दंत्य और मूर्धन्य व्यंजन परस्पर परिवर्तित होते हैं।

(5) इनमें दो वचन और तीन लिंग पाए जाते हैं। ऊकारांत नपुंसक लिंग उभयलिंगी होता है।

पंजाबी

यह भारतीय पंजाब की भाषा है। हरियाणा प्रांत के अलग हो जाने के पश्चात अब यह पूरे भारतीय पंजाब की भाषा है। 'पंजाब' शब्द फारसी का है, जिसका अर्थ है: पांच नदियों का प्रदेश। महाराजा रणजीत सिंह के शासन काल के पश्चात इस भाषा ने आश्चर्यजनक उन्नति की है। इसकी उत्पत्ति के विषय में विद्वानों में मतभेद है। डॉ. उदयनारायण तिवारी के अनुसार, पंजाबी की उत्पत्ति 'टक्क' अपभ्रंश से हुई तथा इस पर शौरसेनी का पर्याप्त प्रभाव है। डॉ. धीरेंद्र वर्मा एवं डॉ. भोलानाथ तिवारी ने इसका विकास पैशाची या कैकय अपभ्रंश से माना है। मूलतः इसे शौरसेनी से प्रभावित पैशाची अपभ्रंश से विकसित मानते हैं। प्रारंभ में इसकी अपनी लिपि थी। जिसका नाम 'लंडा' था। बाद में गुरु अंगद देव ने देवनागरी की सहायता से इस लिपि में सुधार किया और उस लिपि को गुरुमुखी नाम दिया। आजकल यही लिपि प्रचलित है।

इसकी चार प्रमुख बोलियां हैं–

(1) पौबाधी (पंजाबी के पूर्वी क्षेत्र की बोली।)

(2) मालवाई (पटियाला और उसके आसपास की बोली।)

(3) डोगरी (जम्मू–कांगड़ा की : इसकी लिपि टक्करी है।)

(4) माझी (लाहौर–अमृतसर की। यही आज साहित्यिक भाषा है।)

इस भाषा के प्रमुख साहित्यकारों में भाई वीरसिंह, धनीराम चात्रिक, अमृता प्रीतम, पूरन सिंह, बेलवंत सिंह आदि का महत्वपूर्ण स्थान है।

विशेषताएं

(1) पंजाबी में सघोष महाप्राण ध्वनियों का उच्चारण अल्पप्राण के साथ 'ह' मिले हुए के समान होता है। डॉ. चटर्जी के अनुसार पंजाबी में 'ह' का उच्चारण भी सघोषवत् न होकर विसर्गवत् होता है।

(2) इसमें यद्यपि 'ल' ध्वनि लिखी नहीं जाती, फिर भी बोलने में इसका प्रयोग होता है।

(3) इसमें स्वर भक्ति की अधिकता है।

(4) 'न' और 'ण' का अंतर स्पष्ट नहीं है।

बांग्ला

यह बंगाल की भाषा है। पश्चिमी बंगाल भारत में है। पूर्वी बंगाल पहले पाकिस्तान में था किंतु अब वह बांग्लादेश के रूप में एक स्वतंत्र देश है। बांग्ला शब्द बंगाल के प्राचीन नाम 'बंग' से बना है। इसकी दो प्रमुख बोलियां हैं। एक बांग्लादेश में बोली जाती है और दूसरी पश्चिम बंगाल में। प्रथम का केंद्र ढाका है और दूसरी का कोलकाता है। इसका साहित्य पर्याप्त समृद्ध है। कवि रवींद्र नाथ ठाकुर इसी भाषा के कवि हैं, जिन्हें 'गीतांजलि' पर नोबेल पुरस्कार मिला है। इनके अतिरिक्त अन्य प्रमुख साहित्यकार हैं बंकिमचंद्र चटर्जी, माइकल मधुसूदन दत्त, जितेंद्र लाल राय, शरतचंद्र, विभूति भूषण, ताराशंकर, बनफूल, परशुराम, नजरुल इस्लाम, विमल मित्र, शंकर आदि। साहित्यिक भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों की बहुलता है। इस साहित्य पर संस्कृत के अतिरिक्त अंग्रेजी साहित्य का भी पर्याप्त प्रभाव है। हिंदी साहित्य को बांग्ला साहित्य ने विशेष रूप से प्रभावित किया है।

इसका विकास मागधी अपभ्रंश से माना जाता है। कुछ विद्वानों ने गौड़ी अपभ्रंश से इसका विकास माना है। ढक्की अपभ्रंश का भी इस पर प्रभाव पड़ा है। बांग्ला भाषा पर डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी का कार्य अत्यंत उच्चकोटि का माना जाता है।

विशेषताएं

(1) इसमें 'अ' का उच्चारण ह्रस्व 'ओ' की तरह होता है। 'ऐ' और 'औ' का उच्चारण 'ओइ' और 'आए' होता है।

(2) इसमें 'य' का 'ज', 'व' का 'ब', 'ण' का 'न', 'ष', 'स' का 'न', हो जाता है। इसमें विशेषण और क्रियाएं लिंगानुसार बदलती हैं।

(3) निर्जीव पदार्थों में व्याकरणिक लिंग भेद नहीं होता।

(4) वचन दो ही हैं।

मराठी

महाराष्ट्र की भाषा है। इसका नामकरण 'महाराष्ट्री' अथवा 'माहराष्ट्री' अथवा 'माहाराष्ट्री' के आधार पर हुआ है। इसका विकास महाराष्ट्री प्राकृत या अपभ्रंश से माना जाता है। डॉ. तगारे के अनुसार दक्षिणी अपभ्रंश से, जिसमें पुष्पदंत और मुनि कनकामर ने अपनी रचनाएं की हैं, महाराष्ट्री भाषा का विकास हुआ। किंतु आज यह सिद्धांत अमान्य हो चुका है। आज लगभग सभी विद्वान इस विषय में एकमत हैं कि इसका उद्‌भव महाराष्ट्री में प्रचलित किसी अपभ्रंश बोली से हुआ होगा, जिसका आज कोई नमूना उपलब्ध नहीं है। इस पर वैदर्भी अपभ्रंश का भी प्रभाव है।

इसकी चार प्रमुख बोलियां हैं–

(1) खड़ीबोली मराठी, आज यही साहित्यिक भाषा है।

(2) बरारी (वैदर्भी)।

(3) कोंकणी : इस पर द्रविड़ प्रभाव बहुत अधिक है। कुछ विद्वानों ने इस पर यह विचार प्रकट किया है कि यह स्वतंत्र भाषा है।

(4) हल्बी यह हिंदी से बहुत प्रभावित है।

मराठी का साहित्य प्राचीन है। इसके ताम्रपत्र और शिलालेख 923 ई. से उपलब्ध हैं। प्राचीन कवियों में संत ज्ञानेश्वर का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त एकनाथ, तुकाराम, समर्थ रामदास, मोरोपंत खांडेकर, तिलक, ना. सी. फडके, साने गुरु, सावरकर, हरिनारायण आप्टे, पु. न. भावे आदि। इसकी लिपि देवनागरी ही है। जिसे 'बाल बोध' कहते हैं। इसके अतिरिक्त 'मोड़ी' लिपि का भी प्रचलन है।

विशेषताएं

(1) 'ऋ' का उच्चारण 'रू', 'न' के स्थान पर 'ण', 'स' के स्थान पर 'श' और 'र' के स्थान पर 'ल' पाया जाता है।

(2) 'ड' और 'ड़', 'व' और 'ब' में स्पष्ट अंतर है।

(3) इसमें दो वचन और तीन लिंग हैं।

सिंधी

'सिंध शब्द का संबंध संस्कृत शब्द 'सिंधु' नदी के नाम से जोड़ा जाता है किंतु डॉ. भोलानाथ तिवारी का मत इससे भिन्न है। उनके अनुसार 'मूल शब्द संभवतः संस्कृत न होकर द्रविड़ 'सिद्' या 'सित्' है और 'सिंधु' उसी का संस्कृतीकृत रूप है। आगे चल कर 'सिंधु' का विकास 'सिंध' रूप में हुआ और यह उक्त नदी की तटवर्ती भूमि के लिए प्रयुक्त होने लगा।

यह सिंध प्रदेश की भाषा है, जो कि अब पाकिस्तान में है। किंतु भारत विभाजन के पश्चात इस भाषा को बोलने वाले अधिकांश हिंदू भारत में आ गए हैं, जो भारत के विभिन्न प्रांतों में यत्र-तत्र बिखर गए हैं। अब इसे संविधान में स्वीकृत भारतीय भाषाओं की सूची में भी स्थान प्राप्त हो चुका है। इस भाषा की चार बोलियां प्रमुख हैं-

(1) सिरो (शिरोभाग) में बोली जाने वाली सिराकी।

(2) लाड़ या लाट (नीचे के प्रदेश में बोली जाने वाली)

(3) बिचोली जो दोनों के बीच में बोली जाती है। यही आज सिंध की सामान्य एवं साहित्यिक भाषा है।

(4) **कच्छी**-यह गुजराती से अधिक प्रभावित है। कुछ लोगों ने इसे गुजराती सिंधी मिश्रित एक अलग भाषा भी माना है। किंतु वास्तव में यह सिंधी की एक बोली ही है। पहले सिंधी देवनागरी लिपि में लिखी जाती थी किंतु सन् 1853 से इसकी अपनी लिपि प्रचलित है जो अरबी लिपि के आधार पर बनी है। आजकल इसे देवनागरी लिपि में लिखी जाने का आंदोलन जोर पकड़ता जा रहा है। इसमें साहित्य कम ही मिलता है किंतु इधर इस पर और कुछ ध्यान दिया जा रहा है। सिंधी सूफियों के दोहे प्रसिद्ध हैं। शाह लतीफ का 'रिसाला' लोकप्रिय काव्य है।

विशेषताएं

(1) सिंधी के शब्द स्वरांत होते हैं। व्यंजन-ध्वनियों में ग, ज, ड, ब, अतिरिक्त और विशिष्ट ध्वनियां हैं। इनका उच्चारण, स्वर तंत्रियों का कपाट संवार कर एक विशेष प्रकार से किया जाता है। 'द' के स्थान पर 'ड' का उच्चारण पाया जाता है जैसे दस, दश, डह। स को ह का आदेश भी इस भाषा की अपनी विशेषता है पदांत 'अ' का उच्चारण स्पष्ट रूप से पाया जाता है।

(2) इसमें दो लिंग और दो ही वचन हैं।

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का वर्गीकरण

हार्नले का वर्गीकरण

आर्यभाषा के नवीनतम रूप या आधुनिक काल की भाषा को 'आधुनिक आर्य भाषा' या आधुनिक नव्य भारतीय भाषा की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। इसके अंतर्गत वे भाषाएं आती हैं जो अपभ्रंश के विविध रूपों से निकली हैं। इनका काल 1000 ई. से लेकर अद्यतन है।

इसके वर्गीकरण की समस्या को हार्नले, वेबर, ग्रियर्सन, चटर्जी, धीरेंद्र वर्मा आदि ने चिंतन का विषय बनाया तथा समाधान किया।

सर्वप्रथम हार्नले ने आर्यों के आगमन के आधार पर भाषा का वर्गीकरण प्रस्तुत किया। उनके अनुसार भारत में आर्यों की दो शाखाएं आई। पहली शाखा ईरान और काबुल से होती हुई सिंधु पार करके पंजाब में जा बसी। कुछ दिन बाद दूसरी शाखा ने हमला किया। फलस्वरूप पूर्वागत शाखा अपना पूर्व स्थान छोड़कर पश्चिमी पंजाब, सिंधु, बिहार, उड़ीसा,

बंगाल और असम तक फैल गई। नवागत शाखा पूर्वी पंजाब, गुजरात, महाराष्ट्र, राजस्थान नेपाल आदि में बस गई। इस प्रकार नवागत आर्य भीतरी कहे जा सकते हैं और पूर्वागत आर्य बाहरी।

डॉ. हार्नली ने मध्यप्रदेश या भीतरी आर्य प्रदेश की भाषाओं को एक वर्ग में तथा उसके आसपास की भाषाओं को दूसरे वर्ग में रखते हुए आधुनिक आर्य भाषाओं की अपनी पुस्तक Comparative Grammar of Gaudian Languages में चार वर्गों में रखा है–

क. **पूर्वी गौड़ियन** : पूर्वी हिंदी (बिहारी), बांग्ला, असमी, उड़िया।

ख. **पश्चिमी गौड़ियन** : पश्चिमी हिंदी (राजस्थानी), गुजराती, सिंधी पंजाबी।

ग. **उत्तरी गौड़ियन** : गढ़वाली, नेपाली आदि पहाड़ी भाषाएं।

घ. **दक्षिणी गौड़ियन** : मराठी।

ग्रियर्सन का वर्गीकरण

डॉ. जार्ज ग्रियर्सन ने उपर्युक्त मत के समर्थन में अनेक तर्क एवं प्रमाण देते हुए भीतरी (अंतरंग) और बाहरी (बहिरंग) भाषा वर्गों के अतिरिक्त एक मध्यवर्ती वर्ग को स्वीकार किया एवं आधुनिक भारतीय आर्य भाषा को तीन उपशाखाओं, छह समुदायों तथा सत्रह भाषाओं में विभाजित किया है जिसे आगे दी जा रही तालिका से समझा जा सकता है। उन्होंने अपना यह प्रथम वर्गीकरण Linguistic Survey of India भाग एक तथा Bulletin of the school of Oriental Studies, London Institution, Volume, I part III 1920 AD में प्रस्तुत किया है।

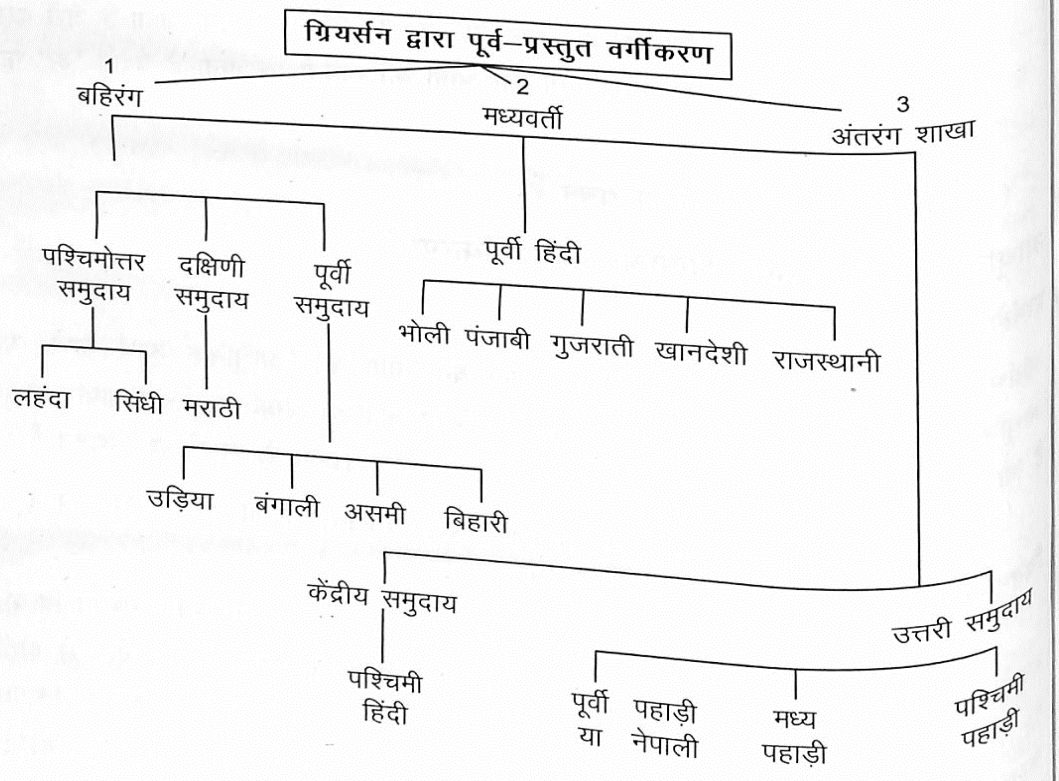

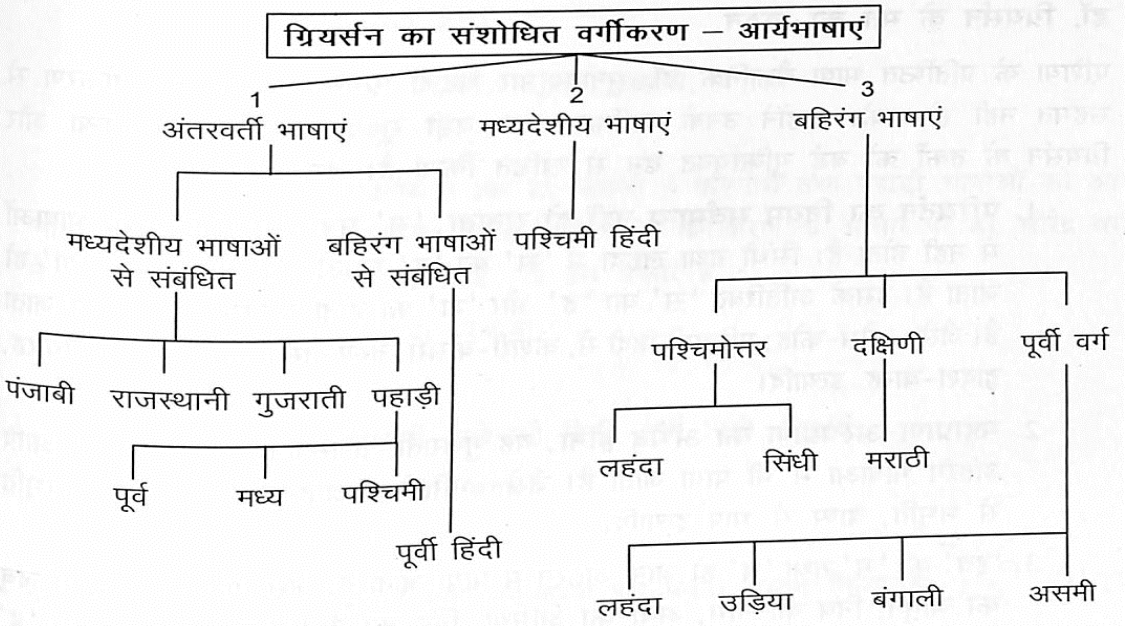

इस वर्गीकरण को मान्यता देते हुए डॉ. ग्रियर्सन ने निम्न प्रमाण प्रस्तुत किए हैं–

1. प्रत्येक उप शाखा के उच्चारण दूसरे से भिन्न हैं– जैसे अंतरंग शाखाओं के दंत्य 'स' का उच्चारण बहिरंग में 'श' हो जाता है। पश्चिमोत्तरी वर्ग की सिंधी भाषा में 'स' 'ह' बन जाता है जैसे 'कोस' का 'कोह'।
2. अंतरंग भाषाएं वियोगावस्था में हैं जबकि बहिरंग की भाषाओं ने संयोगावस्था प्राप्त कर ली है। उदाहरणार्थ हिंदी का संबंध कारक का, के, की लगाकर बनाया जाता है जिन्हें संज्ञा से पृथक ही समझा जाता है। जैसे घोड़े का में 'का' प्रत्यय अलग है। यही कारक बंगाली में जो बहिरंग उपशाखा की भाषा है संज्ञा में 'र' लगाकर बनता है और यह चिह्न संज्ञा का एक भाग हो जाता है। जैसे घोड़ार में 'र' साथ मिला है।
3. बहिरंग भाषाओं में भूतकालिक क्रियाओं के साधारण रूपों से ही अनेक कर्ताओं का पुरुष और वचन माना जा सकता है, क्योंकि भूतकालिक क्रिया का रूप कर्ता पुरुष के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। जैसे मराठी में गेलो (मैं गया) और गेला (वह गया), बंगाल का 'भरिलाए' शब्द भी उसके कर्ता के उत्तम पुरुष होने की सूचना देता है किंतु अंतरंग भाषाओं में भूतकालिक क्रियाएं सभी पुरुषों में एक रहती हैं। जैसे हिंदी में मैं गया, वह गया, तू गया – सभी में 'गया' समान है।
4. बहिरंग भाषाओं की भूतकालिक क्रियाओं में सर्वनाम भी उनकी क्रियाओं में ही अंतर्भूत रहता है, जबकि अंतरंग भाषाओं में सर्वनाम अपना रूप बनाए रखता है।
5. बहिरंग शाखा की भाषाओं के शब्दों तथा धातुओं में भी साम्य है, किंतु अंतरंग में ऐसा नहीं है।

डॉ. ग्रियर्सन के मत का खंडन

एशिया के प्रतिष्ठित भाषा वैज्ञानिक डॉ. सुनीतकुमार चटर्जी ग्रियर्सन साहब के वर्गीकरण से सहमत नहीं हो सके। उन्होंने उनके वर्गीकरण का बड़ी सूक्ष्मता से अध्ययन किया और ग्रियर्सन के तर्कों को बड़े युक्तियुक्त ढंग से खंडित किया है। जैसे-

1. **परिवर्तन का नियम सर्वमान्य नहीं हो सकता,** 'स' संबंधी परिवर्तन सभी भाषाओं में नहीं होता है। सिंधी तथा लहंदा में 'स' का 'ह' मराठी, बांग्ला आदि में 'श' हो जाता है। इसके अतिरिक्त 'स' का 'ह' और 'श' का होना अंतरंग में भी पाया जाता है। जैसे- कोस-कोह, पश्चिमी हिंदी में, केशरी-केसरी, तस्य-तस्स, ताह, एकादश-ग्यारह, द्वादश-बारह इत्यादि।
2. **महाप्राण-अल्पप्राण का अभेद होना,** यह गुजराती, राजस्थानी, पश्चिमी हिंदी आदि अंतरंग भाषाओं में भी पाया जाता है। जैसे- भगिनी से बहिन, वेष से भेस, भवभूति से भभूति, वाष्प से भाप इत्यादि।
3. 'इव' का 'म' तथा 'ब' हो जाना अंतरंग में पाया जाता है। जैसे पश्चिमी हिंदी में जंबु का जामुन, निंब का नीम, अंबी का अमिया, निंबू का नीबू इत्यादि। इसी प्रकार 'इ' तथा 'उ' खुलना बिंदु का बूंद इत्यादि।
4. विभक्ति प्रधान शब्द बहिरंग में ही नहीं अंतरंग में भी पाए जाते हैं। जैसे- ब्रज में मैं (मैंने), तैं (तूने), भूखों (भूख से) इत्यादि।
5. कर्ता में पुरुष तथा वचन का बोध बहिरंग भाषाओं की भूतकालिक क्रियाओं में नहीं होता, केवल अकर्मक क्रियाओं के भूतकाल से होता है। सकर्मक क्रियाओं में दोनों में बहुत अंतर है। सभी पूर्वी कर्तृप्रधान और पश्चिमी कर्म प्रधान है। अतः सकर्मक भूतकालिक क्रियाओं से कर्ताओं के पुरुष और वचन का बोध केवल पूर्वी बहिरंग भाषाओं में हो सकता है। पश्चिमी में नहीं। उधर पूर्वी हिंदी में भी ऐसा ही होता है।
6. भूतकालिक क्रियाओं में सर्वनाम का अंतर्भुक्त होना सब बहिरंग भाषाओं तथा क्रियाओं में नहीं पाया जाता है।
7. सभी धातु शब्द अंतरंग और बहिरंग के समान नहीं हैं।
8. आर्यों का भारत में दोबारा आना भी मान्य नहीं रहा, पर यह कहा जा सकता है, क्योंकि इसके विपरीत आर्यों का सप्त सिंधु में पहले से ही निवास करना प्रमाणित हो चला है। ऐसी अवस्था में आर्यों का न तो पूर्वागमन माना जा सकता है और न पश्चगमन ही। फिर उस आधार पर उनकी भाषाओं का अंतरंग और बहिरंग विभाजन भी उचित नहीं कहा जा सकता।
9. मध्यप्रदेश की भाषा सदैव से राष्ट्रभाषा अथवा सर्वप्रथम भाषा रही है। अतएव इस दृष्टि से पश्चिमी हिंदी को अन्य भाषाओं के साथ रखना अनुचित है। यदि वर्गीकरण किया ही जाए तो पश्चिमी हिंदी को केंद्रीय भाषा मानकर किया जाना चाहिए।

अतः डॉ. चटर्जी ने अपना एक वर्गीकरण प्रस्तुत किया, जो इस प्रकार है :

1. उदीच्य : सिंधी, लहंदा, पंजाबी
2. प्रतीच्य : गुजराती, राजस्थानी

• **खड़ी बोली**

दिल्ली और उसके पूर्व तथा उत्तर-पूर्व के समीपवर्ती जिलों की भाषा खड़ी बोली है। इस बोली को मुसलमान 'हिंदी' या 'हिंदवी' कहते थे। हिंदी के लिए 'खड़ी बोली' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम लल्लूलाल जी ने अपने 'प्रेम-सागर' की भूमिका में किया है। इसी का परिष्कृत रूप राष्ट्र-भाषा 'हिंदी' कहलाता है।

खड़ी बोली का क्षेत्र मुसलमान शासकों का भी गढ़ रहा है। अतः हिंदी की अन्य बोलियों की अपेक्षा खड़ी बोली में अरबी-फारसी के शब्दों की अधिकता है, जिनमें प्रायः अपने शुद्ध उच्चारण के साथ लिखने की प्रवृत्ति है। किंतु ग्रामीण खड़ी बोली में इन विदेशी शब्दों को ध्वन्यात्मक परिवर्तन के साथ ग्रहण किया गया है। ग्रामीण खड़ी बोली तथा साहित्यिक खड़ी बोली में उच्चारण का और कहीं-कहीं रूपात्मकता का भी अंतर है। खड़ी बोली क्षेत्र में जाट जाति के लोगों की संख्या अधिक है, अतः बोलचाल की भाषा में जाटों के जातिगत गुण, पौरुष और कठोरता आ गई है। अंतिम व्यंजन को द्वित्व कर देने की प्रवृत्ति है। जैसे-गाड्डी (गाड़ी), भूक्खा (भूखा), देक्खा (देखा), रोट्टी (रोटी), 'ड़' और 'ढ़' स्थान पर उच्चारण में प्रायः 'ड' और 'ढ' ही रहता है– जैसे पड्ढा (पढ़ा), गाड्डी (गाड़ी)। 'न' के स्थान पर 'ण' की प्रवृत्ति है– जैसे- अपणा (अपना), सुण्णा (सुनना)। तत्कालिक वर्तमान 'मार रहा हूं', 'मार रहे हैं', के स्थान पर 'मारे हूं', 'मारे हैं', हो जाता है।

• **बांगरू**

यह शब्द 'बांगर' से निकलता है जिसका अर्थ- ऊबड़-खाबड़ या ऊंची-नीची भूमि से है। दिल्ली के उत्तर-पश्चिम की भूमि इसी प्रकार की है। यह प्रदेश सतलुज-सिंधु तथा गंगा-यमुना के बीच की उच्च भूमि है। इसका प्राचीन नाम 'सारस्वत' देश था। हिसार जिले में 'हरियाणा' एक स्थान का नाम है, जिसके कारण इसको 'हरियानी' भी कहते हैं। यह दिल्ली के ग्रामीण क्षेत्र- रोहतक, करनाल, नाभा, पटियाला के पूर्वी भाग तथा हिसार जिले के पूर्वी भाग में बोली जाती है। जाटों का प्रदेश होने के कारण इसे 'जाटू' भी कहते हैं। दिल्ली में चमड़े का काम करने वाले आस-पास के गांवों से आ गए हैं जो इसी भाषा का प्रयोग करते हैं, अतः दिल्ली में यह 'चमरुवा' भी कहलाती है। ग्रामीण खड़ी बोली के समान ही बांगरू में पौरुष और कठोरता है।

साहित्यिक भाषा न होने से स्वरों का उच्चारण अस्थिर है। 'जवाब' और 'जुबाब' 'बहुत' और 'बौहत' समान रूप से बोले जाते हैं। 'न' के स्थान पर 'ण' का प्रयोग ग्रामीण खड़ी बोली से भी अधिक है। जैसे- होणा (होना), चल्लाणा (चलाना)। खड़ी बोली में केवल वत्सर्यल है किंतु बांगरू में 'ल' की मूर्धन्य ध्वनि 'ल' भी है, जैसे-काल। ग्रामीण खड़ी बोली के समान ही ड़, ढ़ के स्थान पर ड, ढ पाया जाता है तथा द्वित्व की भी प्रवृत्ति अधिक है– जैसे राज्जी (राजी), भित्तर (भीतर)।

• **ब्रजभाषा**

ब्रजप्रदेश की ब्रजभाषा आदर्श ब्रजभाषा है। किंतु ब्रजभाषा का क्षेत्र विस्तृत है। उत्तर प्रदेश के आगरा, अलीगढ़, एटा, मथुरा, मैनपुरी, बुलंदशहर, बदायूं, बरेली, हरियाणा का गुड़गांव,

राजस्थान के धौलपुर, भरतपुर तथा जयपुर का पूर्वी भाग, मध्यप्रदेश का ग्वालियर ब्रज भाषा-भाषी क्षेत्र हैं। इसकी क्षेत्रीय बोलियों का अंतर भूतकृदंत के रूपों पर यौ, यो, औ, ओ प्रत्ययों द्वारा ज्ञात हो जाता है, जैसे- चल्यो, चल्यौ, चलौ, चलो। शौरसेनी प्राकृत की वास्तविक प्रतिनिधि ब्रजभाषा ही है। खड़ी बोली पर पंजाबी का प्रभाव है।

खड़ी बोली के अकारांत शब्द ब्रजभाषा में आकारांत या ओकारांत हो जाते हैं, जैसे खड़ी बोली का 'भला' ब्रज में 'भलौ' या 'भलो', खड़ी बोली में 'का' ब्रज में 'को' या 'कौ', खड़ी बोली का 'करना' ब्रज 'करनो' या 'करनौ'। आकारांत संज्ञा शब्द ब्रज की कुछ बोलियों में, जिनका क्षेत्र खड़ी बोली के क्षेत्र से मिला हुआ है, आकारांत ही रहता है, जैसे - ढौटा।

बहुवचन का विकारी रूप खड़ी बोली में 'ओ' प्रत्यय लगाकर बनाया जाता है। इसके विपरीत ब्रजभाषा में 'न' प्रत्यय जोड़ा जाता है, जैसे खड़ी बोली 'घोड़ों' ब्रज में 'घोड़न'। बहुवचन के प्रत्यय की दृष्टि से ब्रजभाषा अवधी से मिलती है।

कर्ताकारक में ब्रजभाषा में 'मैं' की अपेक्षा 'हौं' का प्रयोग अधिक होता है, जैसे - 'हौं खडौ रहौं', किंतु सकर्मक क्रिया का कर्ता 'मैं' ही होता है। जिस पर खड़ी बोली के समान 'ने' परसर्ग लगाया जाता है, जैसे- मैंने आम खायौ। अन्य सर्वनाम खड़ी बोली के समान हैं, केवल ध्वनि विकार उत्पन्न हो गया है; जैसे वह 'बुह', यह 'इह' हो जाता है। खड़ी बोली के परसर्ग ब्रजभाषा में ने 'नै', को 'कूं', कौ, कै, से, सों, सूं, तों, ते का कौ, को में पर पैं रूपों में पाए जाते हैं।

ब्रजभाषा में भविष्य काल के लिए, खड़ी बोली के समान, क्रिया के साथ गा, गे, गी, प्रत्यय भी लगते हैं और कन्नौजी के समान सीधा संस्कृत के भविष्यत रूपों से विकसित रूपों में भी प्रयोग में आते हैं। जैसे संस्कृत 'चलिष्यति', ब्रज- 'चलिस्सति', या 'चलिहई', ब्रज- 'चलिहै'।

सहायक क्रिया में भी अंतर पाया जाता है। खड़ी बोली के 'था, थे, थी' ब्रज में प्रायः 'हो, हे, ही' हो जाते हैं। 'हुआ' के स्थान पर 'भयौ' और 'हुई' के स्थान पर 'भई' का प्रयोग होता है। पालि और प्राकृत में संस्कृत-'भू' धातु के 'भू' और 'हू' दोनों शब्द पाए जाते हैं। भूतकृदंत के लिए खड़ी बोली ने 'हूं' को और ब्रज ने 'भू' को *अपनाया है।*

खड़ी बोली में पूर्वकालिक क्रिया बनाने के लिए धातु के साथ 'कर' प्रत्यय लगाया जाता है। किंतु ब्रजभाषा में धातु के साथ 'इ' प्रत्यय लगाकर पुनः उसके साथ 'करि' या 'कै' लगाया जाता है। या कभी बिना 'करि' या 'कै' के भी काम चल जाता है- जैसे - खड़ी बोली में 'चलकर', ब्रज में चलि, चलिकरि।

• कन्नौजी

उत्तर प्रदेश के फर्रूखाबाद जिले में कन्नौज एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक नगर है। यह शब्द 'कान्यकुब्ज' का तद्भव रूप है। कन्नौजी 'कन्नौज' शब्द से बना है, कन्नौजी का उद्भव शौरसेनी प्राकृत की एक शाखा पांचाली अपभ्रंश से माना जाता है। कुछ लोग इसे ब्रज की ही एक बोली मानते हैं। यह उत्तर प्रदेश के फर्रूखाबाद, इटावा, शाहजहांपुर, पीलीभीत, हरदोई के पश्चिमी भाग तथा कानपुर जिलों में बोली जाती है। इसमें और ब्रज में बहुत कम अंतर होने के कारण कन्नौजी का साहित्य ब्रजभाषा के अंतर्गत ही गिना जाता है।

जो शब्द खड़ी बोली में 'आ' से समाप्त होते हैं, वे ब्रज में 'औ' या 'यौ' से और कन्नौजी में ओकारांत हो जाते हैं। खड़ी बोली का 'चला' ब्रज में 'चल्यौ' तथा कन्नौजी में 'चलो' हो जाता है।

कन्नौजी में अकारांत शब्दों को उकारांत करने की प्रवृत्ति ब्रज से अधिक है; जैसे- मालू, बांटु, चलतु, खातु, धारू। भूतकालिक सहायक तथा स्थिति सूचक क्रिया 'था, थे, थी' के स्थान पर 'हतो, हते, हती' का प्रयोग होता है।

- **बुंदेली**

बुंदेलखंड की बोली बुंदेली है। बुंदेला राजपूतों के कारण इस भूखंड का नाम बुंदेल खंड पड़ा। किंतु वर्तमान काल में बुंदेली का क्षेत्र विस्तृत है। उत्तर प्रदेश के हमीरपुर, जालौन, झांसी जिलों तथा मध्य प्रदेश के भोपाल, ग्वालियर, ओरछा, सागर, नरसिंहपुर, होशंगाबाद जिलों में यह अपने मूल रूप में बोली जाती है। दतिया, पन्ना, चरखारी, दमोह, बालाघाट, छिन्दवाड़ा आदि स्थानों पर इसका मिश्रित रूप मिलता है।

इसके उत्तर-पूर्व तथा पूर्व में कोसली, दक्षिण में मराठी, पश्चिम में राजस्थानी तथा उत्तर में ब्रजभाषा बोली जाती है। बुंदेली साहित्य को भी ब्रज के ही अंतर्गत गिना जाता है, क्योंकि बुंदेली को भी कन्नौजी के समान ब्रज की ही एक बोली माना जाता है। बुंदेली कवियों ने क्षेत्रीय शब्दों का प्रयोग बहुत किया है, जिनका प्रयोग सामान्यत: साहित्य भाषा में नहीं होता। केशवदास की रचनाओं में इस प्रकार के शब्द पाए जाते हैं। बुंदेली की कई उपबोलियां भी हैं, जैसे-राठौरी, लौधंती, बनाफरी आदि। ब्रज के 'ए' और 'औ' बुंदेली में 'ए' और 'ओ' हो जाते हैं, जैसे, और-ओर, जैसा-जेसो।

कन्नौजी के ही समान खड़ी बोली के अकारांत शब्द बुंदेली में ओकारांत हो जाते हैं, जैसे-घोड़ा - घोरो। गया - गयो। खड़ी बोली का 'ड़' बुंदेली में 'र' में परिणत हो जाता है। 'वह', 'वो' जैसे सर्वनाम प्राय: खड़ी बोली के समान होते हैं। किंतु खड़ी बोली के परसर्ग बुंदेली में- को - कों या खों, से-सें, सों, में-मैं, रूपों में पाए जाते हैं। भविष्यत काल के रूप खड़ी बोलियों के समान गा, गे, गी लगाकर ब्रज के समान हो, है, हैं से भी समाप्त होते हैं।

(ख) पूर्वी हिंदी और उनकी बोलियां

जिस तरह पश्चिमी हिंदी की जननी शौरसेनी- प्राकृत है, उसी तरह पूर्वी हिंदी का उद्भव अर्द्धमागधी से है। यह उस प्रदेश की भाषा है, जहां प्राचीन काल में कोसल जनपद था। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से पश्चिमी हिंदी ही हिंदी कहलाने की अधिकारिणी है, क्योंकि मूलत: 'हिंदी' शब्द इसी के लिए प्रयुक्त होता रहा है।

डॉ. चटर्जी ने पूर्वी हिंदी को प्राच्य भाषाओं के साथ रखा है। सर जॉर्ज ग्रियर्सन ने 'कोसली' को पूर्वी हिंदी इसलिए कहा है कि पश्चिमी और पूर्वी हिंदी का क्षेत्र, विशेषत: अवधी का क्षेत्र सांस्कृतिक और राजनीतिक दृष्टि से एक ही रहा। सूर का 'सूर सागर' और 'तुलसी' का 'रामचरितमानस' क्रमश: पश्चिमी और पूर्वी हिंदी के होते हुए भी पश्चिमी और पूर्वी क्षेत्रों में समान रूप से मान्य ग्रंथ हैं। गत शताब्दी तक ब्रजभाषा तो पंजाब से लेकर काशी तक की साहित्यिक भाषा हो गई थी। अत: पूर्वी और पश्चिमी-हिंदी इसी कारण समीप आ

गई हैं। इनका तात्विक अंतर पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है। पूर्वी हिंदी की तीन प्रमुख बोलियां हैं, जैसे- अवधी, बघेली, और छत्तीसगढ़ी।

- **अवधी**

अवध प्रांत के आधार पर इसका नामकरण हुआ। प्राचीन काल में इसका केंद्र अयोध्या नगर था, किंतु अब लखनऊ अवधी का केंद्र है क्योंकि अवधी का क्षेत्र कुछ पश्चिम को हट गया है। गंगा के दक्षिण में भी यह फतेहपुर, इलाहाबाद, बांदा, मिर्जापुर जिलों में बोली जाती है। अवधी के बोलने वालों की संख्या 2 करोड़ से अधिक है। अवधी के पश्चिमी भाग उन्नाव, फतेहपुर आदि जिलों में इसे 'बैसवाड़ी' भी कहते हैं। बैसवाड़ी मूल अवधी से कुछ कर्णकटु है।

अवधि के साहित्य को प्रेमाख्यानकार जायसी आदि तथा 'श्री रामचरितमानस' के रचयिता तुलसी द्वारा अमरत्व प्रदान किया गया है। पूर्वी हिंदी बोलियों के समूह की प्रमुख भाषा अवधी है। यह पूर्वी हिंदी की सबसे महत्वपूर्ण बोली है। ब्रजभाषा के उपरांत जिस प्राचीन भाषा को साहित्यिक भाषा का गौरव प्राप्त हुआ, वह अवधी है। अवधी में हिंदी के सर्वश्रेष्ठ कवि तुलसीदास ने अपने सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य एवं पुराण काव्य 'रामचरितमानस' की रचना की है। कुछ विद्वान इसे कौशली एवं बैसवाड़ी बोली भी कहते हैं।

- **बघेली**

यह बघेलखंड की भाषा है, जिसका नामकरण बघेले राजपूतों के कारण हुआ। रीवा बघेलखंड का केंद्र है। यह पश्चिमी बांदा तथा मध्यप्रदेश के दमोह, जबलपुर, मंडला तथा बालाघाट जिलों में भी बोली जाती है। कुछ विद्वान इसे अवधी की ही एक बोली मानते हैं।

- **छत्तीसगढ़ी**

यह छत्तीसगढ़ की बोली है, किंतु कुछ भागों में इसे खलोटी और लरिया भी कहा जाता है। यह जबलपुर से लेकर छोटा नागपुर तक और उत्तर में रीवा से लेकर दक्षिण में बस्तर तक बोली जाती है। इसकी कई क्षेत्रीय बोलियां हैं, क्योंकि यह उत्तर में अवधी, पूर्व में मुंडा और उड़िया, दक्षिण तथा दक्षिण पश्चिम में मराठी और पश्चिम में बघेली और बुंदेली से घिरी हुई है। इसमें साहित्य का प्रायः अभाव है।

(ग) बिहारी हिंदी और उनकी बोलियां

- **भोजपुरी**

भोजपुरी मुख्य रूप से पश्चिम बिहार, पूर्वी-उत्तर प्रदेश और झारखंड के क्षेत्र में बोली जाती है। आधिकारिक और व्यावहारिक रूप से भोजपुरी हिंदी की एक उपभाषा या बोली है। भोजपुरी अपनी शब्दावली के लिए मुख्यतः संस्कृत एवं हिंदी पर निर्भर है। कुछ शब्द इसने उर्दू से भी ग्रहण किये हैं। भारत के जनगणना आंकड़ों के अनुसार भारत में लगभग 3.3 करोड़ लोग भोजपुरी बोलते हैं। पूरे विश्व में भोजपुरी जानने वालों की संख्या लगभग 5 करोड़ है।

डॉ. ग्रियर्सन ने भारतीय भाषाओं को अंतरंग और बहिरंग इन दो श्रेणियों में विभक्त किया है जिसमें बहिरंग के अंतर्गत उन्होंने तीन प्रधान शाखाएं स्वीकार की हैं-

1. उत्तर पश्चिमी शाखा
2. दक्षिणी शाखा
3. पूर्वी शाखा।

इस अंतिम शाखा के अंतर्गत उड़िया, असमी, बांग्ला और पुरबिया भाषाओं की गणना की जाती है। पुरबिया भाषाओं में मैथिली, मगही और भोजपुरी- ये तीनों बोलियां मानी जाती हैं। क्षेत्र विस्तार और भाषा-भाषियों की संख्या के आधार पर भोजपुरी अपनी बहनों मैथिली और मगही में सबसे बड़ी है।

- **मगही या मागधी**

यह भाषा भारत के मध्य-पूर्व में बोली जाने वाली एक मुख्य भाषा है। इसका निकट का संबंध भोजपुरी और मैथिली भाषा से है और अक्सर ये भाषाएं एक ही साथ बिहारी भाषा के रूप में रख दी जाती हैं। इसे देवनागरी लिपि में लिखा जाता है। मगही बोलने वालों की संख्या (2002) लगभग 1 करोड़ 30 लाख है। मुख्य रूप से यह बिहार के गया, पटना, राजगीर और नालंदा के इलाकों में बोली जाती है।

- **मैथिली**

हिंदी प्रदेश की उपभाषा 'बिहारी' की एक बोली है। 'मैथिली' नाम उस क्षेत्र के नाम 'मिथिला' से संबद्ध है। 'मिथिला' शब्द भारतीय साहित्य में बहुत पहले से है। मैथिली मुख्य रूप से भारत में बिहार के दरभंगा, मधुबनी, समस्तीपुर, पूर्णिया आदि क्षेत्रों तथा नेपाल के तराई के इलाकों में बोली जाने वाली भाषा है। यह प्राचीन भाषा हिंदी आर्य परिवार की सदस्य है और भाषाई तौर पर हिंदी (जिससे इसकी लगभग 65 प्रतिशत शब्दावली आती है), बांग्ला, असमिया, उड़िया और नेपाली से इसका काफी निकट का संबंध है।

(घ) राजस्थानी हिंदी और उनकी बोलियां

राजस्थान प्रांत में बोली जाने वाली भाषा को राजस्थानी कहते हैं। इसे अपभ्रंश की 'जेठी बेटी' की संज्ञा दी गई है, क्योंकि अपभ्रंश की जितनी अधिक विशेषताएं राजस्थानी में हैं उतनी अन्य किसी आधुनिक बोली में नहीं। इसका संबंध एक ओर ब्रजभाषा और बुंदेली से और दूसरी ओर गुजराती से निश्चित होता है। आज इसका नाम 'राजस्थानी' है किंतु पहले इसे मारू सोरठ या मारू भाषा तथा डिंगल कहा जाता था। इसका उद्भव कुछ विद्वान शौरसेनी से और कुछ गुर्जर अपभ्रंश से मानते हैं। सन् 1971 की जनगणना के अनुसार इसके बोलने वालों की संख्या 2, 57, 24, 144 है।

भौगोलिक दृष्टि से इस प्रदेश में एकरूपता नहीं मिलती। कहीं रेतीले मैदान हैं (जैसे जैसलमेर और बीकानेर) तो कहीं पहाड़ी प्रदेश (जैसे उदयपुर) मालवा का हरा-भरा इलाका और अजमेर की घाटियां भी इसी प्रदेश में हैं। इसी कारण से यहां अनेक बोलियां और उपबोलियां मिलती हैं। इनकी उपबोलियों की संख्या 30 के लगभग है। इसमें निम्न बोलियां प्रमुख हैं-

- **मारवाड़ी**

शुद्ध मारवाड़ी जोधपुर और उसके आसपास बोली जाती है। इसकी लगभग 12 उपबोलियां हैं। यह राजस्थान की सबसे बड़ी बोली है। बोलने वाले लगभग 78 लाख हैं। यही प्राचीन डिंगल का विकसित रूप है। इसमें चंद दुरसाजी, मुरारीदान, पृथ्वीराज, सूर्यमल्ल, मोरा, दादू, चरणदास-हरिदास, गद्य साहित्य में बचनिकाओं, प्रसिद्धियों या यश गाथाओं की अपनी विमल परंपरा प्राप्त होती है। यही आज के राजस्थान की आदर्श बोली है।

विशेषताएं- इसमें दो क्लिक ध्वनियां हैं - घृ, स।

घृ का उच्चारण द-धा के बीच में होता है - धावो (पशु)

स का स-ह के बीच में - जास्यो

स < श में उच्चारित

- **मालवी**

मालवा की बोली मालवी है। इसके अंतर्गत पश्चिम में प्रतापगढ़, रतलाम, इंदौर, भोपाल, होशंगाबाद, गुना, झालावाड़, टोंक तथा चित्तौड़गढ़ के कुछ भाग आते हैं। शुद्ध मालवी उज्जैन, इंदौर और देवास में बोली जाती है। लगभग 65 लाख लोग इसे बोलते हैं।

इसकी स्थिति बुंदेली और मारवाड़ी के बीच की है।

ड़ > ड

ऐ > ए

औ झ ओ

- **जयपुरी**

इसको ढूंढाड़ी भी कहते हैं। इसको पश्चिमी सीमा पर ढूंढ़ा या पाया गया है, जहां किसी युग में बड़े-बड़े यज्ञ हुए थे। इसी ढूंढाड़ से इसका नाम पड़ा। इसको जंगली बोली भी कहा गया है। इसे बोलने वालों की संख्या 40 लाख के लगभग है। जयपुर नगर के 50 मील के क्षेत्र में इसे बोला जाता है।

- **मेवाती**

मेओ जाति के नाम पर क्षेत्र का नाम मेवात और बोली का नाम मेवाती पड़ा है। इस पर अब जयपुरी का प्रभाव अधिकाधिक पड़ता जा रहा है।

(ङ) पहाड़ी हिंदी और उनकी बोलियां

शौर सेनी अपभ्रंश से विकसित पहाड़ी भाषा हिमाचल प्रदेश के भद्रावह के उत्तर पश्चिम से लेकर नेपाल के पूर्वी भाग तक की भाषा है। इसके तीन मुख्य रूप हैं- पश्चिमी पहाड़ी, मध्य पहाड़ी और पूर्वी पहाड़ी।

- **पश्चिमी पहाड़ी**

यह बोली शिमला के निकटवर्ती क्षेत्रों में बोली जाती है।

- **मध्य पहाड़ी**

इस बोली की दो शाखाएं हैं- कुमाऊंनी और गढ़वाली।

1. **कुमाऊंनी**-कुमाऊं का पुराना नाम कूर्मांचल था। इसके अंतर्गत नैनीताल, अल्मोड़ा और पिथौरागढ़ के जिले सम्मिलित हैं। ग्रियर्सन ने इसकी 12 बोलियों की गिनती की है। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग 10 लाख है। लोककवियों में गुमानी पंत और कृष्ण पांडेय का नाम प्रसिद्ध है।

   इस पर दरद, खस, राजस्थानी, खड़ी बोली आदि के अतिरिक्त किरात और मोटा आदि तिब्बती चीनी परिवार की भाषाओं का प्रभाव रहा है।

2. **गढ़वाली**-ठाकुरों के बावन गढ़ियों में विभक्त हो जाने के कारण इसका नाम गढ़वाल या बावनी पड़ा। यहां की बोली होने के कारण ही इसे गढ़वाली कहते हैं। आज इस क्षेत्र का नाम उत्तराखंड है। इसमें गढ़वाल, टिहरी, चमोली, उत्तरकाशी का दक्षिणी भाग आता है। इसके लगभग 11 लाख बोलने वाले हैं। लोकगीतों के कई संग्रह प्रकशित हुए हैं। लेखकों में चंद्रमोहन रतूड़ी, गैरोला, बहुगुणा आदि के नाम प्रसिद्ध हैं।

- **पूर्वी पहाड़ी**

इस बोली को गोरखाली भी कहते हैं। यह नेपाल की राजभाषा है।

4.5 देवनागरी लिपि तथा उसकी विशेषताएं

भाषा की उत्पत्ति की तरह ही लिपि की उत्पत्ति के संबंध में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। लिपि भाषा और विचारों की अभिव्यक्ति का मूर्त माध्यम है। यह मनुष्य के दृश्य संवाद की पद्धति है जिसमें उन विभिन्न चिह्नों और प्रतीकों का उपयोग किया जाता है, जिनका संबंध भाषा से होता है। यह विचारों के आदान-प्रदान को सक्षम बनाती है। प्रारंभ में जादू टोने की खींची गई लकीरें, धार्मिक प्रतीकों के चित्र, पहचान के लिए बरतनों इत्यादि पर बनाए गए चित्र, किसी वस्तु को अलंकृत करने के लिए बनाए गए चित्र आदि लिपि की मूल सामग्री कहे जा सकते हैं। वाचिक अर्थात ध्वन्यात्मक भाषा क्षणस्थायी होती है। उसे स्थायित्व देने की भावना से ही लिपि का आविर्भाव हुआ। लिपि ने भाषा को देश और काल के बंधन से मुक्त कर दिया और भाषा की क्षणस्थायिता को चिरस्थायिता में परिणत कर दिया।

भाषा की उत्पत्ति की तुलना में लिपि की उत्पत्ति बहुत बाद की चीज है। भाषा आज से लाखों वर्ष पहले उत्पन्न हुई, किंतु लिपि का इतिहास पांच-छह हजार वर्ष के पहले का नहीं है। वास्तव में भाषा का संबंध जीवन से है और लिपि का संबंध सभ्यता के विकास से। बिना लिपि के भी मनुष्य का कार्य चल सकता है लेकिन भाषा के बिना नहीं। आज भी संसार में ऐसे मनुष्य हैं जो पढ़े-लिखे नहीं हैं, किंतु भाषा का प्रयोग करते हैं।

4.5.1 देवनागरी लिपि : एक परिचय

देवनागरी एक ध्वन्यात्मक लिपि है। यह प्रचलित रोमन, अरबी, चीनी आदि लिपियों से अधिक वैज्ञानिक है। यह विश्व में सर्वाधिक प्रयुक्त लिपियों में से एक है। संस्कृत, पालि, हिंदी, मराठी, कोंकणी, सिंधी, कश्मीरी, नेपाली आदि कई भाषाएं देवनागरी में लिखी जाती हैं। कुछ स्थितियों में गुजराती, पंजाबी, मणिपुरी, रोमानी और उर्दू भाषाएं भी इसमें लिखी जाती हैं। देवनागरी लिपि बाएं से दाएं लिखी जाती है, जिसकी पहचान एक क्षैतिज रेखा से है जो 'शिरोरेखा' कहलाती है।

विद्वानों ने नागरी या देवनागरी नामकरण को लेकर अनेक विचार प्रस्तुत किये हैं, जिनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं-

1. कुछ विद्वानों का विचार है कि इसका विकास गुजरात के नागर ब्राह्मणों ने किया था और उसी के आधार पर इसे नागरी कहा जाने लगा।
2. कुछ विद्वान इसे बौद्ध-ग्रंथ 'ललित विस्तार' की नाग लिपि से उद्‌भूत मानते हैं। परंतु डॉ. बॉनेट जैसे अनेक विद्वान इसे उपयुक्त नहीं समझते।
3. देवनगर काशी में प्रचलित होने के कारण 'देवनागरी' नाम पड़ा।
4. पहले देवताओं की प्रतिमा के स्थान पर, सांकेतिक चिह्नों के आधार पर ही उनकी उपासना की जाती थी। ये भिन्न प्रकार के त्रिकोणादि चिह्नों के बीच लिखे जाते थे, जिनका नाम देवनगर था। इन त्रिकोणादि चिह्नों के बीच लिखे जाने वाले 'देवनगर' चिह्न ही कालांतर में अक्षरों के रूप में विकसित होकर देवनागर और देवनागरी कहे जाने लगे।
5. देववाणी संस्कृत के लेखन में इसका प्रयोग होता रहा, इसलिए नागरी के साथ 'देव' शब्द जोड़कर देवनागरी कहा जाने लगा।
6. नगरों की संबद्धता के कारण ही यह नागरी कहलाई।
7. इस संदर्भ में कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि प्राचीन काल में पाटलिपुत्र को नगर तथा चंद्रगुप्त द्वितीय को 'देव' कहकर संबोधित किया जाता था। अतएव देवनागरी से प्रचलित होने वाली लिपि देवनागरी कहलाई।
8. डॉ. धीरेंद्र वर्मा ने इस विषय में एक अद्‌भुत कल्पना की है। वे कहते हैं-"मध्ययुग में स्थापत्य की एक शैली थी 'नागर', जिसमें चतुर्भुजी आकृतियां होती थीं। इन चतुर्भुजी लिपियों (प, म, भ, ग, ष) के कारण ही इसे 'देवनागरी' कहा जाने लगा।"

देवनागरी लिपि का उद्‌भव और विकास

विभिन्न अनुसंधानों के आधार पर यह माना जाता है कि भारत की आधुनिक लिपियों का उद्‌गम स्थल ब्राह्मी लिपि ही है। यह भी कहा जा सकता है कि मनुष्य की आविष्कार-प्रिय तथा परिष्कार-प्रिय बुद्धि एवं युगीन आवश्यकताओं के कारण ही ब्राह्मी का सर्वाधिक विकसित एवं परिमार्जित रूप देवनागरी में देखा जा सकता है। देवनागरी लिपि में लिखित हिंदी ही संविधान द्वारा भारत की राजभाषा के रूप में स्वीकृत हुई। संस्कृत ग्रंथों के मुद्रण में

भी देवनागरी लिपि का उपयोग ही सर्वाधिक हुआ है और मराठी तथा नेपाली भाषाओं की लिपि भी यही है। उत्तर भारत में प्रचलित सभी लिपियां थोड़े अंतर के साथ एक तरह से प्रस्तुत देवनागरी के ही भेद हैं। अतएव आज भारत की समस्त लिपियों में इसका स्थान सर्वोपरि है।

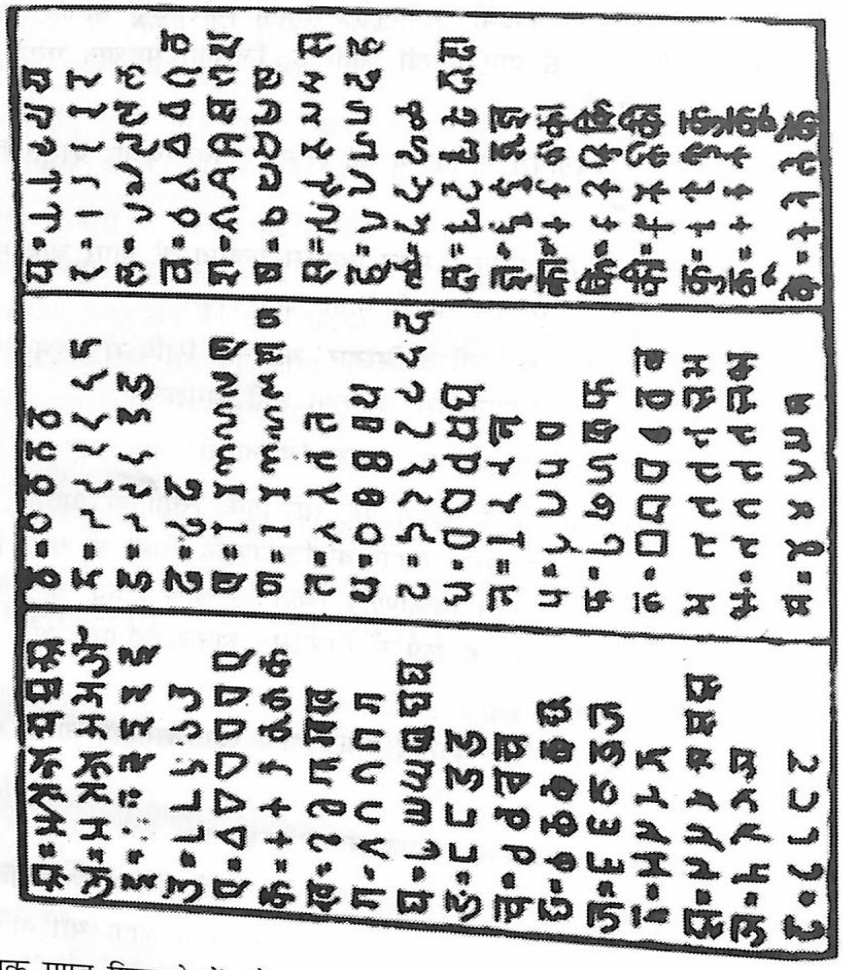

अब तक प्राप्त शिलालेखों और अनेक खोजों के आधार पर देवनागरी लिपि का उद्‌भव सातवीं–आठवीं शताब्दी में स्वीकार किया जाता है। इसका सर्वप्रथम प्रयोग गुजरात के राजा जयभट्ट (सातवीं–आठवीं शताब्दी) के एक शिलालेख में देखा गया है। आठवीं शताब्दी में राष्ट्रकूट नरेशों ने तथा नवीं शताब्दी में बड़ौदा नरेश ध्रुवराज ने अपनी राजाज्ञाओं में देवनागरी लिपि का व्यवहार किया है। विजयनगर तथा कोंकण राज्यों में भी सामान्यतया देवनागरी के प्रयोग का संकेत मिलता है। इसे देखकर कुछ विद्वानों का तो यह भी अनुमान है कि इसका विकास दक्षिण–भारत में हुआ और बाद में उत्तर भारत में इसका प्रचार होने लगा।

विद्वान पूर्ण रूप से आश्वस्त हैं कि आधुनिक देवनागरी बारहवीं शताब्दी की इस प्राचीन नागरी से ही विकसित हुई है। इसमें वर्तमान अनेक वर्णों का आधुनिक रूप तेरहवीं शताब्दी पर्यन्त निर्मित हो चुका था और सोलहवीं शताब्दी तक लगभग सभी वर्ण अपनी वर्तमान आकृति ग्रहण कर चुके थे।

उत्तरी ब्राह्मी से नागरी लिपि का विकास

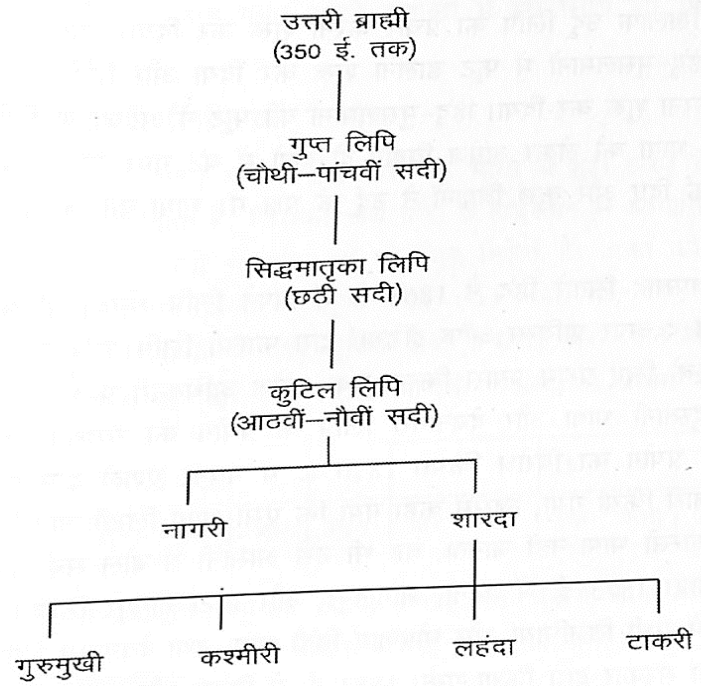

देवनागरी लिपि का हिंदी भाषा के रूप में विकास

देवनागरी लिपि का हिंदी भाषा की अधिकृत लिपि बनने के रास्ते में कई रुकावटें आईं। अंग्रेजों का भरसक प्रयास रहा कि हिंदी को फारसी लिपि में ही लिखा जाए। जॉन गिलक्रिस्ट फोर्ट विलियम कॉलेज के हिंदुस्तानी विभाग के प्रथम अध्यक्ष थे। गिलक्रिस्ट ने दरबारी अथवा फारसी शैली, हिंदुस्तानी शैली और हिंदवी शैली इन तीन शैलियों को हिंदुस्तानी की शैलियां माना। उनके अनुसार फारसी शैली कठिन थी और हिंदवी शैली गंवारू शैली थी। इसलिए उन्होंने हिंदुस्तानी शैली को प्राथमिकता देते हुए इसके जिस रूप को बढ़ावा दिया उसका मूल आधार हिंदी था। लेकिन उसमें अरबी-फारसी की बहुलता होने के कारण उसे फारसी लिपि में ही लिखा जाता था। इससे ऐसा लगता है कि गिलक्रिस्ट का उद्देश्य हिंदुस्तानी के नाम पर उर्दू का प्रचार-प्रसार करना ही था। गिलक्रिस्ट के बाद विलियम प्राइस फोर्ट विलियम कॉलेज के हिंदुस्तानी विभाग के अध्यक्ष बने।

अपने कार्यकाल में उन्होंने गिलक्रिस्ट द्वारा भाषा से संबंधित पैदा की गई भ्रांतियों को दूर करने का प्रयास किया और हिंदुस्तानी के नाम पर हिंदी पर जोर दिया। विलियम प्राइस के बाद फोर्ट विलियम कॉलेज की ओर से हिंदी के लिए कोई विशेष प्रयास नहीं किए गए। 1830 ई. में अंग्रेजी कंपनी ने अदालतों में फारसी के साथ-साथ देशी भाषाओं का प्रयोग करने के लिए एक विज्ञप्ति जारी की गई। लेकिन 1837 ई. से पहले इस विज्ञप्ति पर पूर्णरूपेण अमल नहीं हो सका। 1837 ई. में इस विज्ञप्ति पर सही रूप से अमल होने के बाद बंगाल में बांग्ला भाषा और लिपि का प्रचलन शुरू हो सका। मुसलमानों द्वारा उर्दू का भरपूर समर्थन किया गया। वे नहीं चाहते थे कि अदालतों में हिंदी का प्रयोग किया जाए।

अदालतों में ही नहीं शिक्षा में भी हिंदी का प्रयोग करने के खिलाफ उन्होंने आंदोलन किए। उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश आदि प्रांतों में हिंदी का प्रचलन शुरू होने पर भी उन्होंने नागरी लिपि के खिलाफ उर्दू लिपि का प्रचार करना शुरू कर दिया। 1857 ई. के विद्रोह के बाद अंग्रेजों ने हिंदू-मुसलमानों में फूट डालना शुरू कर दिया और हिंदी और उर्दू भाषा को लेकर भेदभाव करना शुरू कर दिया। हिंदू-मुसलमानों की फूट ने अंग्रेजों के लिए सुरक्षा-कवच का कार्य किया। भाषा को लेकर अंग्रेज विद्वान दो दलों में बंट गए। कुछ विद्वानों ने हिंदी के पक्ष में अपने तर्क दिए और कुछ विद्वानों ने उर्दू के पक्ष में। भाषा को लेकर एक विवाद उठ खड़ा हुआ।

राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद ने 1868 ई. में अपने लिपि संबंधी प्रतिवेदन 'मेमोरेण्डम कोर्ट कैरेक्टर इन द अपर प्रोविन्स ऑफ इंडिया' द्वारा फारसी लिपि के स्थान पर नागरी लिपि और हिंदी भाषा के लिए प्रथम प्रयास किया। एक अंग्रेज अधिकारी फ्रेडरिक जॉन शोर ने भी अदालतों में हिंदुस्तानी भाषा और देवनागरी लिपि के प्रयोग का समर्थन और फारसी तथा अंग्रेजी भाषा के प्रयोग का विरोध किया। 1870 ई. में गवर्नर ऐशले द्वारा देवनागरी के पक्ष में एक आदेश जारी किया गया, जिसमें कहा गया कि ऐसी भाषा लिखी जाए जिसे एक कुलीन हिंदुस्तानी, जो फारसी भाषा नहीं जानता, वह भी उसे आसानी से बोल सके और फारसी पूरित उर्दू न लिखी जाए। 1873 ई. में पटना, भागलपुर, और छोटा नागपुर डिविजनों की अदालतों और कार्यालयों में सभी विज्ञप्तियां और घोषणाएं हिंदी भाषा तथा देवनागरी लिपि में जारी करने का आदेश बंगाल सरकार द्वारा किया गया। 1881 ई. में बिहार और मध्य प्रदेश में नागरी लिपि और हिंदी का प्रयोग करने का सरकारी आदेश लागू किया गया जिसने उत्तर प्रदेश में नागरी आंदोलन को नैतिक रूप से प्रोत्साहित किया।

भारतेंदु हरिश्चंद्र द्वारा नागरी आंदोलन को अभूतपूर्व शक्ति प्रदान किए जाने के कारण उन्हें इस आंदोलन का प्रतीक और नेता माना जाने लगा। 1882 ई. में उन्होंने शिक्षा आयोग के प्रश्न-पत्र का जवाब देते हुए कहा- "सभी सभ्य देशों की अदालतों में उनके नागरिकों की बोली और लिपि का प्रयोग होता है। यही ऐसा देश है, जहां न तो अदालती भाषा शासकों की मातृभाषा है और न ही प्रजा की।"

1893 ई. में अंग्रेजी सरकार ने जब भारतीय भाषाओं के लिए रोमन लिपि अपनाने की बात की तो इसके विरोध में एक तीव्र प्रतिक्रिया सामने आई। 1893 ई. में ही नागरी प्रचार एवं हिंदी भाषा के संवर्द्धन के लिए नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की स्थापना की गई। इस समिति ने अपना सर्वप्रथम ध्येय अदालतों में नागरी लिपि के प्रयोग को आरंभ कराना ही तय किया। सभा द्वारा 'नागरी कैरेक्टर' नामक एक पुस्तक तैयार की गई। यह पुस्तक अंग्रेजी भाषा में तैयार की गई थी।

इस पुस्तक में सभी भारतीय भाषाओं के लिए रोमन लिपि की क्या उपयुक्तता होगी, इस बारे में बताया गया था। 1897 ई. में मदन मोहन मालवीय ने 'कोर्ट कैरेक्टर एंड प्राइमरी एजुकेशन इन नार्थ-वेस्टर्न प्रोविन्सेज' नाम से एक स्वतंत्र पुस्तिका लिखी जिसका बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा। 1898 ई. में प्रांत के तत्कालीन लेफ्टिनेंट गर्वनर जब काशी आए तो नागरी प्रचारिणी सभा के एक प्रभावशाली प्रतिनिधिमंडल ने मालवीय के नेतृत्व में उनसे मुलाकात कर उन्हें एक मेमोरियल दिया। इस मेमोरियल पर हजारों लोगों ने हस्ताक्षर किए थे। मालवीय

के इस अथक प्रयास से अदालतों में नागरी को स्थान प्राप्त हो सका। इन सभी प्रयासों के फलस्वरूप 18 अप्रैल, 1900 ई. को गर्वनर द्वारा अदालतों में फारसी के साथ-साथ नागरी को भी बराबर का अधिकार दे दिया गया। 20वीं शताब्दी में इस लिपि को राष्ट्र लिपि के रूप में सम्मान प्राप्त हुआ।

नागरी अंकों एवं नागरी लिपि की उत्पत्ति

यह निर्विवाद सत्य है कि अंकों की उत्पत्ति सर्वप्रथम भारत में हुई। अरब़ देश में अंकों को 'हिंदस' या 'हिंदसा' कहा जाता है, जिसका अर्थ होता है हिंदुस्तान से आयातित। जबसे प्राचीन लिपि के चिह्न उपलब्ध हैं, तभी से अंकों के भी चिह्न मिलते हैं। अंकों की दो शैलियां हैं- प्राचीन एवं अर्वाचीन। प्राचीन शैली में शून्य चिह्न (0) नहीं था, दस, बीस, सौ आदि शून्यात्मक संख्या वाली गणनाओं के लिए पृथक अंक प्रचलित थे। नवीन शैली में शून्य की उद्भावना से बड़ी सुगमता हो गई। नवीन शैली पांचवीं शताब्दी से प्रयोग में आई है।

देवनागरी अंक	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९
हिन्दी	शून्य	एक	दो	तीन	चार	पांच	छह	सात	आठ	नौ

भारत की सभी वर्तमान लिपियां ब्राह्मी लिपि की वंशज होने की बात भले ही आश्चर्यजनक प्रतीत हो परंतु इनके चित्र देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मी की उत्तरी एवं दक्षिणी शाखा से ही समस्त भारतीय लिपियों का विकास हुआ है।

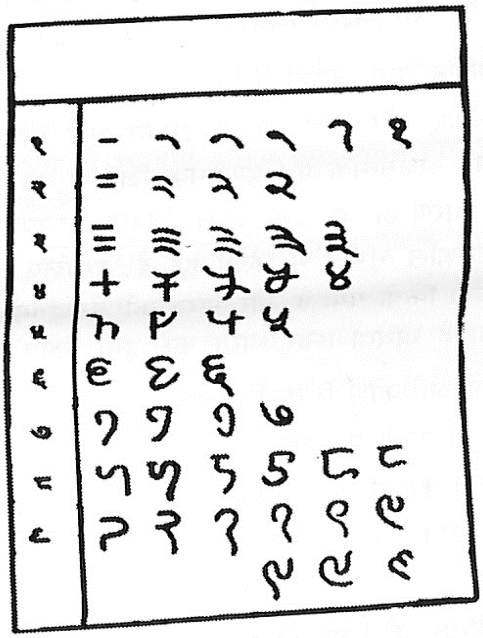

4.5.2 देवनागरी लिपि की विशेषताएं

यह लिपि बायीं ओर से दायीं ओर लिखी जाती है।

यह न तो शुद्ध रूप से अक्षरात्मक लिपि है और न ही वर्णात्मक लिपि।

इसकी प्रमुख विशिष्टताएं निम्नांकित हैं–

1. इस लिपि में एक ध्वनि के लिए एक ही वर्ण संकेत है और इस एक वर्ण संकेत से एक ही ध्वनि व्यक्त होती है। जैसे 'ब' को 'ब' ही बोला जाएगा रोमन का अक्षर 'बी' है परंतु उससे ध्वनि 'ब' का संदर्भ लिया जाता है।
2. ध्वनि के नाम पर ही वर्ण का नाम रखा गया है।
3. इसमें कोई मूक वर्ण नहीं।
4. इसका सबसे बड़ा गुण यह है कि जैसा बोला जाता है वैसा ही लिखा जाता है। रोमन में 'But' बट पढ़ा जाता है जबकि 'Put' पुट हो जाता है।
5. इस लिपि में एक वर्ण में दूसरे वर्ण का भ्रम नहीं होता है।
6. यह लिपि उच्चारण के सूक्ष्मतम भेद को भी प्रकट करती है। लिखे शब्दों का हूबहू उच्चारण कर भिन्न अर्थ प्रकट करती है।
7. इसकी वर्णमाला ध्वनि वैज्ञानिक पद्धति के बिल्कुल अनुरूप है।
8. संस्कृत, हिंदी, मराठी, नेपाली की एकमात्र लिपि होने के कारण इसका प्रयोग व्यापक रूप में होता है।
9. इस लिपि का भारत की अनेक लिपियों से निकट संबंध है। भारतीय भाषाओं के किसी भी शब्द या ध्वनि को देवनागरी में ज्यों का त्यों लिखा जा सकता है।

4.5.3 देवनागरी लिपि की वैज्ञानिकता

देवनागरी लिपि एक वैज्ञानिक तथा आदर्श लिपि है। प्रो. देवेंद्र नाथ शर्मा ने अपनी पुस्तक- 'राष्ट्र भाषा हिंदी : समस्याएं और समाधान' में इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। यह एक ध्वन्यात्मक लिपि है, जिसमें अक्षरात्मक एवं वर्णात्मक लिपियों की विशेषताएं भी लक्षित होती हैं। इसकी वैज्ञानिकता के कारण ही यह उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, राजस्थान, गुजरात और महाराष्ट्र आदि प्रांतों के विशाल भूभाग में फैली हुई है, इसलिए इसे भारत राष्ट्र की 'राज्य लिपि' के पद पर अभिषिक्त किया गया है और भारत की समृद्धतम भाषा संस्कृत, चाहे उसका वाङ्मय दक्षिण भारत का है अथवा उत्तर भारत का, इसी लिपि में सृजित है।

आधुनिक नागरी के अधिकांश लिपि चिह्न परंपरा से ही विकसित हुए हैं। किंतु ध्वनियों के अधिकाधिक स्पष्टीकरण के लिए उसने कुछ चिह्न विदेशी लिपियों से भी ग्रहण किए हैं, जैसे अंग्रेजी से ऑ (0) तथा फारसी के प्रभाववश क, ख, ग, ज, फ आदि। पहले इसमें केवल दो विराम चिह्न थे- अर्द्ध विराम के लिए एक खड़ी पाई और पूर्ण विराम के लिए दो खड़ी पाइयां। किंतु आधुनिक काल में दो खड़ी पाइयां लुप्त हो गई हैं और पूर्ण विराम के लिए एक खड़ी पाई (।) तथा अर्द्धविराम के लिए कौमा (,) तथा अल्पविराम के लिए सैमी कालन (;) उद्धरण चिह्न (" "), रेखिका या डैश (-), कोष्ठक ( ) आदि का भी प्रयोग होने लगा है, जो अन्य भाषाओं के प्रभाववश आया है और जो वैज्ञानिकता में अतिरिक्त अभिवृद्धि करता है।

देवनागरी उन सभी आदर्शों पर खरी उतरती है, जो एक आदर्श और वैज्ञानिक लिपि के लिए अनिवार्य हैं, जैसे-

1. देवनागरी अर्द्ध अक्षरात्मक लिपि है।
2. ध्वनि और लिपि का पूर्ण सामंजस्य दृष्टिगोचर होता है, अर्थात इसमें जो बोला जाता है, वही लिखा जाता है।
3. एक ध्वनि के लिए एक ही संकेत है, अर्थात ध्वनि लिपि संकेतों में पूर्ण निश्चितता है। रोमन अथवा उर्दू लिपि की भांति न तो एक ही ध्वनि के लिए अनेक संकेत हैं और न ही किन्हीं ध्वनियों के लिए संकेतों का अभाव है।
4. इसमें समग्र ध्वनियों को उत्पन्न व प्रकट करने की पूर्ण क्षमता विद्यमान है।
5. लिपि सुपाठ्य एवं संदेह रहित है। फारसी की भांति नुक्तों और जवर, जेट, पेश की पेचीदगियों से मुक्त है। 'खुदा से जुदा हुए एक नुक्ते के लिए' वाली कहावत इस पर चरितार्थ नहीं होती और न ही मुंडी-लिपि की भांति बही का बहू लिखा जाता है।
6. सौंदर्य भी इस लिपि का एक गुण है। अक्षरों की सुडौलता के कारण लिपि पूर्ण कलात्मक है।
7. आधुनिक गत्यात्मक युग में त्वरा एवं आशुलेखन की पूर्ण क्षमताओं से संपन्न है।
8. बायीं ओर से दायीं ओर को लिखी जाती है।
9. ध्वनियों का क्रम पूर्णतः वैज्ञानिक है। स्पर्श ध्वनियों के वर्णन में प्रथम वर्ग कंठ्य ध्वनियों का और अंतिम वर्ग ओष्ठ्य ध्वनियों का है। अल्प प्राण ध्वनि के पश्चात महाप्राण ध्वनि सूचक चिह्नों का विधान है जैसे - क, ख; प्रत्येक वर्ग की ध्वनियों में पहले अघोष ध्वनियों एवं पश्चात सघोष ध्वनियों का निर्धारण हुआ है, अर्थात प्रत्येक वर्ग की प्रथम दो ध्वनियां अघोष एवं अंतिम तीन सघोष हैं। वर्गों के अंत में अनुनासिक ध्वनियां हैं।
10. अल्पप्राण एवं महाप्राण ध्वनियों के चिह्न पृथक-पृथक हैं।
11. छपाई एवं लिखाई का एक ही रूप है।
12. स्वरों में ह्रस्व एवं दीर्घ का भेद है तथा मात्राएं निश्चित हैं।
13. अमेरिकी विद्वानों ने अनेक प्रयोगों द्वारा सिद्ध किया है कि देवनागरी लिपि ही पूर्णतः वैज्ञानिक लिपि है। उनका कथन है कि 'देवनागरी के सभी वर्णों को दफ्ती के टुकड़ों में काटकर उनमें विशिष्ट विधि से वायु प्रविष्टि की जाए तो उनसे उनके उच्चारण के अनुरूप ही ध्वनि निसृत होगी।

देवनागरी लिपि को वैज्ञानिकता के बारे में संदेह होने के निम्न कारण माने जा सकते हैं-

1. इस लिपि में कुल मिलाकर 403 टाइप होने के कारण अंकण और मुद्रण में कठिनाई होती है।
2. इसमें शिरोरेखा का प्रयोग अनावश्यक अलंकरण के लिए किया जाता है।
3. ऋ, ॠ, ऌ ॡ, ऽ, ञ्, ष शुद्ध उच्चारण करने में कठिनाई होती है।

4. इस लिपि में ख में र व का, घ में ध का और म में भ का भ्रम होता है।
5. इस लिपि में वर्णों को संयुक्त करने की कोई निश्चित व्यवस्था नहीं की गई।
6. इस लिपि में अनुस्वार एवं अनुनासिकता के प्रयोग में एकरूपता का अभाव दिखलाई देता है।
7. इस लिपि में त्वरापूर्ण लेखन नहीं किया जा सकता क्योंकि लेखन में हाथ बार-बार उठाना पड़ता है।
8. इस लिपि में वर्णों के संयुक्तीकरण में र के प्रयोग को लेकर भ्रम की स्थिति उत्पन्न होती है।
9. इस लिपि में इ की मात्रा (f) का लेखन वर्ण के पहले किया जाता है जबकि उच्चारण वर्ण के बाद किया जाता है।

4.5.4 देवनागरी लिपि में सुधार की संभावनाएं

कोई भी भाषा अथवा लिपि समय और व्यवहार के साथ-साथ बदलती रहती है। भाषा का स्वरूप उसके प्रयोग और व्यवहार पर निर्भर करता है। लिपि भी उसी अनुसार बदलती रहती है। आज के तकनीकी युग में यह बदलाव अपरिहार्य हो गया है।

नागरी लिपि सुधार : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

नागरी लिपि में सुधार के ऐतिहासिक प्रयासों पर नजर डालें तो हम पाते हैं कि कदाचित् 'अ' की बारहखड़ी (यथा आ, आ, अि, अी, अु, अू, अे, अै आदि) का प्रचलन सर्वप्रथम महाराष्ट्र के सावरकर बंधुओं ने किया था और व्यावहारिक रूप में इसे मराठी समाचार पत्रों ने अपनाया था। सन् 1939 में, इंदौर में, हिंदी साहित्य सम्मेलन के 24वें अधिवेशन में राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के सभापतित्व में नागरी लिपि में सुधार के लिए एक छोटी उपसमिति बनाई गई और श्री काका कालेलकर इसके संयोजक नियुक्त किए गए। गांधीजी बहुत दिनों से यह बात सोच रहे थे कि किसी प्रकार यदि देवनागरी लिपि के वर्णों की संख्या कुछ कम की जाए ताकि देश के लोगों को शीघ्रता से साक्षर करने में मदद मिल सके। इसी के फलस्वरूप इस समिति का निर्माण हुआ। कई वर्षों के निरंतर प्रयासों के बाद इस सम्मेलन में 14 सुझावों को स्वीकृत किया गया-

1. लिखने में शिरोरेखा लगाना आवश्यक नहीं है। छपाई में साधारण रीति से शिरोरेखा लगाना ही नियम रहे। किंतु विशेष स्थानों में अक्षरों की विभिन्नता प्रकट करने के लिए शिरोरेखाहीन अक्षर भी प्रयुक्त हो सकते हैं। सम्मेलन की सिफारिश है कि विशेष या छोटे अक्षरों में जहां शिरोरेखा होने से छपाई की स्पष्टता में कमी आ जाती हो, वहां शिरोरेखाविहीन अक्षरों का प्रयोग करना अच्छा होगा।
2. प्रत्येक वर्ण ध्वनि के उच्चारण-क्रम से लिखा जाए।
   (क) जब तक कोई संतोषजनक रूप सामने न आए तब तक 'इ' की मात्रा अपवाद रूप से वर्तमान पद्धति के अनुसार ही 'f' लिखी जाए। यथा-सिर।
   (ख) ए, ऐ की मात्राएं वर्ण के ठीक ऊपर लगाई जाएं। यथा-देवता, अनेक। ओ और औ भी ऊपर के सिद्धांत के अनुसार लिखे जाएं; यथा-ओला, औरत।

(ग) उ, ऊ, ऋ की मात्राएं अक्षर के बाद आएं और पंक्ति में ही लिखी जाएं। यथा–कुटिल, पूजा, सृष्टि।

(घ) अनुस्वार और अनुनासिक के चिह्न भी अक्षर के बाद ऊपर लिखे जाएं। यथा–अंश।

(ङ) रेफ से व्यक्त होने वाले अर्द्ध 'र' उच्चारण-क्रम से योग्य जगह पर लिखा जाए। यथा–धर्म।

(च) संयुक्ताक्षर में भी, सर्वत्र, वर्ण उच्चारण-क्रम से एक के पीछे एक लिखे जाएं। यथा–द्वारका (द्वारका नहीं), विद्वत्ता (विद्वत्ता नहीं)।

3. स्वरों और मात्राओं में समानता तथा सामंजस्य करने के लिए 'इ, ई, उ, ऊ' के वर्तमान रूप छोड़कर केवल 'अ' में ही इन स्वरों की मात्राएं लगाकर इन स्वरों के मूल स्वरूप का बोध कराया जाए। अर्थात 'अ' की बारहखड़ी की जाए; यथा–अ, आ, अि, अी, अु, अू, अे, अै, ओ, औ, अं, अः।

4. दक्षिण की लिपियों के स्वरों में ह्रस्व 'ए' और 'ओ' के स्वरूप आते हैं, उनके लिए ह्रस्व मात्राएं बनाई जाएं।

5. पूर्ण अनुस्वार के स्थान पर '॰' लगाया जाए और अनुनासिक के लिए केवल बिंदी '॰' लिखी जाए; यथा–सिंह, चांद। व्यंजन के पूर्व हलंत 'ङ, ञ, ण, न, म' की जगह पर जहां प्रतिकूलता न हो (यथा–वाङ्मय, तन्मय) अनुस्वार लिखा जाए; यथा–चंचल, पंथ, पंप।

6. छपने में अक्षरों के नीचे बाईं ओर यदि अनुकूल स्थान पर बिंदी लगाई जाए तो उसका अभिप्राय होगा कि उस अक्षर की ध्वनि उस अक्षर की मूल ध्वनि से भिन्न है। उस ध्वनि का निर्णय प्रचलन के अनुसार होगा; यथा–फारसी, मराठी, सिंधी इत्यादि।

7. विराम चिह्न आजकल सब भारतीय भाषाओं में प्रचलित हैं, वैसे ही कायम रखे जाएं, पूर्ण विराम का चिह्न पाई '।' रहे।

8. अंकों के स्वरूप इस प्रकार रहें–

१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, ०।

9. वर्तमान 'ख' के स्वरूप का परिवर्तन करना आवश्यक है। उसके स्थान पर गुजराती 'ख' स्वीकार किया जाए।

10. अ, झ, ण की जगह बंबई के अ, झ, ण रखे जाएं और 'ल' 'श' की जगह हिंदी के रूप 'ल' 'श' रखे जाएं। 'क्ष' का 'क्ष' रूप प्रचलित किया जाए। बीजगणित आदि वैज्ञानिक साहित्य में संज्ञारूप 'क्ष' आ जाता है।

11. मराठी, गुजराती, कन्नड़, तेलुगु, आदि भाषाओं में विशिष्ट ध्वनि के लिए जो ळ प्रयुक्त होता है वही रखा जाए। ड या ल से न व्यक्त किया जाए।

12. ज्ञ के उच्चारण में प्रांतीय भिन्नता होने से ज्ञ का रूप जैसा है वैसे ही रखा जाए।

13. संयुक्त अक्षरों के बनाने के लिए जिन वर्णों में खड़ी पाई अंतिम भाग में है जैसे– ख, ग, घ, च, ज, ञ, ण, त, थ, ध, न, प, ब, भ, म, य, ल, व, श, ष, स उनका